विवेक-ज्योति
वर्ष ४२ अंक ८ अगस्त २००४ मूल्य रु. ६.००
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ८

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप कीं हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं हो पाता। तो भी यदि चाहें, तो अपना पता लिखा लिफाफा भेज दें। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(८) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों के अतिरिक्त खर्च से इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४२ अगस्त २००४ अंक ८

वैराग्य-शतकम्

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ।।११।।

अर्थ – इस अनादि संसार-चक्र में, फल के निमित्त किये गये कर्मों में मुझे कोई कल्याण नहीं दिखाई दे रहा है। पुण्य कर्मों आदि के फल भी अनित्य होने के कारण मेरे मन में भय का ही संचार करते हैं। विषयासक्त लोगों के जीवन में महापुण्य द्वारा संचित दीर्घ-काल-व्यापी सुखभोग भी इतनी तीव्र गति से बढ़ते हैं कि अन्ततः वे अशेष दुःख का ही कारण बनते हैं।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ।।१२।।

अर्थ – भोग्य पदार्थ दीर्घ काल तक साथ रहने पर भी अन्त में निश्चित रूप से छूट जायेंगे। लोग स्वेच्छया इन विषयों का त्याग नहीं करते, तो भी इनसे (बलात्) बिछुड़ने में क्या भेद है? – भोग्य-विषय अपने आप ही चले जाने पर चित्त में असीम पीड़ा के कारण होते हैं, परन्तु स्वेच्छापूर्वक त्याग दिये जाने पर ये निश्चित रूप से अपार शान्ति का सुख प्रदान करते हैं।

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(वैरागी-भैरव-कहरवा)

भवसागर से पार करो भगवान ।
ना है मेरे भाव-सम्पदा, ना अन्तर में ज्ञान ।।

आश्रित हूँ सब भाँति तुम्हीं पर, राह चलाओ मुझे पकड़कर,
कृपा न हो तो कैसे होवे, स्मरण-मनन-जप-ध्यान ।।

संग रहो तो चिन्ता कैसी, दुःख-संकट की ऐसी-तैसी,
फिर जीवन में चाहे आये, शत आँधी-तूफान ।।

तुम ही सागर तुम ही नैया, तुम ही हो पतवार-खिवैया,
अब 'विदेह' का कर डालो प्रभु, आलोकित मन-प्राण ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा-कहरवा)

बीत गए दिन ध्यान-भजन बिन, आई रात अँधेरी
बीच भँवर में जा पहुँची है, जीवन नैया तेरी ।।

दिवस गँवाए तुमने सोकर,
धरी कौड़ियाँ खूब सजोकर,
मिटा गई सर्वस्व तुम्हारा, तृष्णा परम लुटेरी ।। बीत..

पद-सम्पद-मद के बन्धन में,
सुख-दुख हास्य और क्रन्दन में,
व्यर्थ गया जीवन सारा ही, करते हेराफेरी ।। बीत...

अब भी चेत सँभल जा प्राणी,
आगे राह कठिन अनजानी,
छोड़ जगत् को फारिग हो जा,
मत कर ज्यादा देरी ।। बीत ..

झटपट सब कर्तव्य निभा ले,
मन की सब उलझन सुलझा ले,
प्रतिपल प्रभु सुमिरन में लग जा,
सुन 'विदेह' की टेरी ।। बीत..

– *विदेह*

मन और उसकी एकाग्रता

स्वामी विवेकानन्द

सर्वश्रेष्ठ महापुरुष शान्त, निर्वाक और अज्ञात होते हैं। उन्हें ही विचार की शक्ति का सच्चा ज्ञान रहता है। उनमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि यदि वे किसी पर्वत की गुफा में जाकर उसके द्वार बन्द करके केवल पाँच सच्चे विचारों का ही मनन कर इस संसार से विदा हो जायँ, तो उनके ये पाँच विचार ही अनन्त काल तक जीवित रहेंगे। वास्तव में ऐसे विचार पर्वतों को भी भेदकर, समुद्रों को लाँघकर सारे संसार में व्याप्त हो जायँगे। वे मानव-हृदय व मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर ऐसे नर-नारी उत्पन्न करेंगे, जो उन्हें मनुष्य के जीवन में कार्यान्वित करेंगे।

एक विचार लो; उसी को अपना जीवन बनाओ, उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो और उसी में जीवन बिताओ। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु – सर्वांग उसी विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। सिद्ध होने का यही उपाय है और इसी उपाय से बड़े-बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं।

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति का नियामक है। **मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो**, दिन-पर-दिन यही सब भाव सुनते रहो, मास-पर-मास इसी का चिन्तन करो। शुरू में सफलता न भी मिले, पर कोई हानि नहीं; **असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है।**

मन के संयत हो जाने पर तुम पूरे शरीर को वश में रख सकोगे। तब तुम इस यंत्र के दास नहीं रहोगे; बल्कि यह देह-यंत्र ही तुम्हारा दास होकर रहेगा। तब यह देह-यंत्र आत्मा को खींचकर नीचे की ओर न ले जाकर, उसकी मुक्ति में श्रेष्ठ सहायक हो जायेगा।

मन मानो सरोवर के समान है और हमारा प्रत्येक विचार मानो उस सरोवर की लहर के समान है। जैसे सरोवर में लहर उठती, गिरती और गिरकर अन्तर्हित हो जाती है, वैसे ही मन में लगातार ये विचार-तरंगें उठतीं और अन्तर्हित होती रहती हैं। पर वे एकदम अन्तर्हित नहीं हो जातीं। वे क्रमशः सूक्ष्मतर होती जाती हैं और प्रयोजन होने पर फिर उठती हैं।

जैसे अचेतन-भूमि से जो कार्य होता है, वह चेतन की निम्न भूमि का कार्य है, वैसे ही ज्ञान की उच्च भूमि से भी – ज्ञानातीत भूमि से भी कार्य होता है। उसमें किसी प्रकार का अहं-भाव नहीं रहता। यह अहं-भाव केवल बीच की अवस्था में रहता है। जब मन इस रेखा के ऊपर या नीचे विचरण करता है, तब किसी भी प्रकार का अहं-बोध नहीं रहता, पर मन की क्रिया तब भी चलती रहती है। जब मन इस रेखा के ऊपर या ज्ञान-भूमि के अतीत प्रदेश में चला जाता है, तब उसे समाधि, अतिचेतन या ज्ञानातीत भूमि कहते हैं।

मन विकल्परहित या वृत्तिहीन होता है तभी मन का लोप होता है और तभी आत्मा प्रत्यक्ष होती है। भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने इस अवस्था का वर्णन 'अपरोक्षानुभूति' के रूप में किया है।

हमारा शरीर मानो एक लौहपिण्ड है और हमारा हर विचार मानो धीरे-धीरे उसके ऊपर हथौड़ी की चोट मारना है – उसके द्वारा हम अपनी इच्छानुसार शरीर का गठन करते हैं।

हम अभी जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है। अतः अपने चिन्तन के विषय में विशेष ध्यान रखो।

पर्वत की कन्दरा में भी बैठकर यदि तुम कोई पाप-चिन्तन करो, किसी के प्रति घृणा का पोषण करो, तो वह भी संचित रहेगा, और कालान्तर में पुनः तुम्हारे पास दुःख के रूप में तुम पर प्रबल आघात करेगा। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या व घृणा के भाव चारों ओर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि ब्याज सहित तुम पर आ गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक नहीं सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेजा, तो निश्चित जान लो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।

यदि हम जगत् के सारे शुभ विचारों के प्रति स्वयं को खोल दें, तो हम उनके उत्तराधिकारी हो जाते हैं।

मेरा विचार है कि भारत और भारत के बाहर मानव-जाति में जिन उदार भावों का विकास हुआ है, उसकी शिक्षा गरीब-से-गरीब और हीन-से-हीन को दी जाय और फिर उन्हें स्वयं विचार करने का अवसर दिया जाय। विचार और कार्य की स्वाधीनता ही जीवन, उन्नति व कल्याण का एकमेव साधन है। इस स्वाधीनता के अभाव में व्यक्ति, जाति व राष्ट्र की अवनति अवश्यम्भावी है। ... जात-पाँत रहे या न रहे, सम्प्रदाय रहे या न रहे, परन्तु जो मनुष्य या वर्ग, जाति, राष्ट्र या संस्था किसी व्यक्ति के स्वाधीन विचार या कर्म पर रोक लगाती है – भले ही उससे दूसरों को क्षति न पहुँचे, तब भी – वह आसुरी है और उसका नाश अवश्य होगा।

एकाग्रता

मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस उपाय से संसार का सारा ज्ञान प्राप्त हुआ है? यदि केवल यही ज्ञात हो गया कि प्रकृति का द्वार कैसे खटखटाना चाहिए, उस पर कैसे आघात देना चाहिए, तो बस, प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केन्द्रित होती है; यही रहस्य है।

प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करने पर मन का यह नियत संयम स्थिर भाव से प्रवाहाकार में चलता रहता है, तब मन सदैव एकाग्र रह सकता है।

मन एकाग्र हुआ है, यह कैसे जाना जाय? मन के एकाग्र हो जाने पर समय का कोई ज्ञान न रहेगा। जितना ही समय का ज्ञान जाने लगता है, हम उतने ही एकाग्र होते जाते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी देख पाते हैं कि जब हम कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन रहते हैं, तब समय की ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं रहता। जब पढ़कर उठते हैं, तो अचरज करने लगते हैं कि इतना समय बीत गया! सारा समय मानो एकत्र होकर वर्तमान में एकीभूत हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य आकर जितना ही एकीभूत होते जाते हैं, मन उतना ही एकाग्र होता जाता है।

मानव व पशु में यही भेद है – मानव-चित्त में एकाग्रता की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। छोटे-से-छोटे आदमी की तुलना ऊँचे-से-ऊँचे आदमी से करो। भेद मानसिक एकाग्रता की मात्रा में ही होता है।

प्रत्येक व्यक्ति का मन कभी-न-कभी एकाग्र हो जाता है। हमें जो चीजें प्रिय होती हैं, उन पर हम मन को एकाग्र कर लेते है और जिन चीजों पर हमारा मन एकाग्र हो जाता है, वे हमें प्रिय लगती हैं।

मन की शक्तियों की एकाग्रता ही हमारे लिए ईश्वर-दर्शन का एकमात्र साधन है। यदि तुम एक (अपनी) आत्मा को जान सको, तो भूत-भविष्य-वर्तमान की सभी आत्माओं को जान सकोगे। इच्छा-शक्ति के द्वारा मन की एकाग्रता साधित होती है – और विचार, भक्ति, प्राणायाम आदि विभिन्न उपायों से यह इच्छा-शक्ति उद्‌बुद्ध तथा वशीभूत हो सकती है। एकाग्र मन मानो एक प्रदीप है, जिसके द्वारा आत्मा का स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

उचित यह है कि हम अपना मन वस्तुओं पर नियोजित करें, न कि वस्तुएँ हमारे मन को खींच लें। बहुधा हमें विवश होकर मन को एकाग्र करना पड़ता है। विभिन्न वस्तुओं के किसी आकर्षक गुण के कारण हमारा मन विवश होकर उन पर एकाग्र होने लगता है और हम उसे रोक नहीं पाते। मन को वश में करके, इच्छित स्थान पर उसे लगाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की जरूरत पड़ती है। दूसरे किसी तरीके से यह हो नहीं सकता। धर्म की साधना में मन को वश में करना आवश्यक है। इस साधना में हमें मन को मन में ही लगाना पड़ता है।

प्रश्न – मन के एकाग्र होने के बावजूद कामनाओं का उदय क्यों होता है?

स्वामीजी – पूर्व संस्कार से! बुद्धदेव जब समाधि अवस्था प्राप्त करने ही वाले थे, तभी उनके सामने 'मार' आ गया। 'मार' स्वयं कुछ भी नहीं था, वह उनके मन के पूर्व संस्कार का ही छायारूप कोई प्रकाश था।

एकाग्रता समस्त ज्ञान का सार है, उसके बिना कुछ नहीं किया जा सकता। साधारण मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश व्यर्थ नष्ट कर देता है और इसलिए वह निरन्तर भारी भूलें करता रहता है। प्रशिक्षित मनुष्य अथवा मन कभी कोई भूल नहीं करता।

जब मन एकाग्र होता है और पीछे की ओर स्वयं पर ही केन्द्रित किया जाता है, तो हमारे भीतर जो भी है, वह हमारा स्वामी न रहकर हमारा दास बन जाता है। हिन्दुओं ने मन की एकाग्रता को अन्तर्जगत् व आत्मा के अज्ञात क्षेत्र पर केन्द्रित किया और परिणाम-स्वरूप योगशास्त्र का विकास हुआ। इच्छा-शक्ति, मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना योग है। इसके अध्ययन से यह लाभ है कि हम उनके द्वारा नियंत्रित होने की जगह उनका नियंत्रण करना सीख लेते हैं। चित्त तह के ऊपर तह प्रतीत होता है। हमारा वास्तविक लक्ष्य यह है कि इन सभी मध्यवर्ती तहों को पारकर ईश्वर को प्राप्त करें।

राजयोग हमें यही शिक्षा देता है। इसमें जितने उपदेश हैं, उन सबका उद्देश्य, प्रथमत:, मन की एकाग्रता का साधन है; इसके बाद है – उसके गम्भीरतम प्रदेश में कितने प्रकार के भिन्न-भिन्न कार्य हो रहे हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना; और तत्पश्चात् उनसे साधारण सत्यों को निकालकर उनसे अपने एक सिद्धान्त पर पहुँचना। अत: राजयोग की शिक्षा किसी धर्म-विशेष पर आधारित नहीं है। तुम्हारा धर्म चाहे जो हो – तुम चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, यहूदी या बौद्ध या ईसाई – इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; तुम मनुष्य हो, बस, यही काफी है। प्रत्येक मनुष्य में धर्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने की शक्ति है, इसका अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक बात का कारण पूछने का अधिकार है और उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह अपने भीतर से ही उन प्रश्नों के उत्तर पा सके। पर हाँ, इसके लिए कुछ कष्ट उठाना होगा। ❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (५/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके ५वें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

अब गुरु की भूमिका क्या है? जो प्रसंग चल रहा है उस सन्दर्भ में देखें, हम गुरु या सन्त का आश्रय क्यों लेते हैं? भौतिक वस्तुओं में तो केवल व्यक्तिगत रुचि की बात आती है, लेकिन ज्ञान-उपासना या साधना के मार्ग में जब व्यक्ति के लिए निर्णय करना कठिन हो जाता है, तब निर्णय लेने की भूमिका गुरु की होती है। गुरु का अभिप्राय क्या है? जैसे बाजार में दवा तो मिलती है, लेकिन जब डॉक्टर या वैद्य किसी दवा का नाम बताते हैं, तभी आप उसे लाते और सेवन करते हैं। इसी प्रकार गुरु की भूमिका यह है कि वे शिष्य या समाज या जाति के लिए उसकी रुचि तथा संस्कार के अनुकूल भगवान का वर्णन करते हैं और लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार उन्हें जिस रूप चाहें, पा सकते हैं।

विश्वामित्र वे गुरु हैं, जो भगवान राम को लेकर आते हैं और वे ही प्रेरक के रूप में सामने आते हैं। कब किसका संहार करना है और कब किसका उद्धार करना है – इसका निर्णय भगवान का कार्य नहीं है। भगवान को निर्णय करना होता, तो वे दिन भर बुरे लोगों को मारते रहते और अच्छे लोगों को बचाते रहते। गुरु विश्वामित्र ने ताड़का की ओर संकेत करते हुए भगवान से कहा – इसका संहार करो, तो भगवान ने संहार कर दिया। अहल्या की ओर दिखाकर कहा – इसका उद्धार करो, तो उद्धार कर दिया।

गुरु की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुरु हमारी रुचि को परिष्कृत बनाते हैं, संस्कार भी देते हैं और हमारी रुचि का सदुपयोग करना ही उन्हीं की भूमिका है। जैसे एक डॉक्टर या वैद्य अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग दवाई देते हैं। किसी से कहेंगे – दूध पीना चाहिए, किसी अन्य से कहेंगे – दूध नहीं पीना चाहिए। एक से कहेंगे – यह खाना चाहिए, दूसरे से कहेंगे – यह नहीं खाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जब साधक के लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह क्या करे, और क्या न करे, तब वह सन्त या गुरु की सहायता से अपने पथ को निर्धारित करता है। व्यक्ति को जब सन्त और सद्गुरु मिल जाते हैं, तब वे ही सही दिशा का मार्ग-दर्शन करते हैं। मानस में महर्षि विश्वामित्र की भूमिका यही है।

अब अधिक विस्तार में न जाकर यह देखें कि जब श्रीराम तथा लक्ष्मण पुष्प लेने वाटिका में जाते हैं, तो वहाँ गुरुदेव साथ में नहीं है, पर गुरुदेव की आज्ञा वहाँ पर भी है। अभी तक जो घटनाएँ घटित हुई, उनमें गुरुजी साथ में हैं। ताड़का का वध हुआ तो गुरुजी साथ में हैं, अहल्या का उद्धार हुआ तो गुरुजी साथ में हैं, धनुष टूटने के प्रसंग में भी गुरुजी पास में ही बैठे हुए हैं। परन्तु यह जो पुष्प-वाटिका प्रसंग है, इसमें श्रीराम गुरुदेव से आज्ञा लेते हैं। पुष्प-वाटिका प्रसंग में जिस ईश्वर का वर्णन किया गया, वह ब्रह्म होते हुए भी भक्त का भगवान है। यहाँ रुचि की प्रधानता है। पुष्प-वाटिका के प्रसंग में रुचि की दृष्टि है, शुद्ध भक्ति-भावना का उद्रेक है। जहाँ भावुकता की, हृदय की और भावरस की प्रधानता है, वहाँ पर गुरुदेव साथ में रहकर उसका निर्देश नहीं करेंगे। वहाँ तो परोक्ष रहकर आदि में भी गुरु विश्वामित्र हैं और अन्त में भी वे ही विद्यमान हैं। श्रीराम जब पुष्प-वाटिका से लौटकर आते हैं और गुरुजी के सामने अपनी अन्तःकरण की दशा का वर्णन करते हैं –

राम कहा सबु कौसिक पाहीं।
सरल सुभाउ छुवत छल नाहीं ।।
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही।
पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही ।।
सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे ।। १/२३७/२-४

गुरुदेव की आज्ञा से पुष्प-वाटिका में जाना और लौटकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना – यह अन्तरंग लीला है, अतः इसमें गुरुदेव प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं हैं। जब विवाह-मण्डप में वर-वधू का प्राणिग्रहण हो रहा हो, तब तो आचार्य को होना ही चाहिए, परन्तु जिस समय पति-पत्नी एकान्त में बैठे हुए हो, उस समय क्या गुरुजी आकर कहेंगे कि तुम पत्नी का हाथ पकड़ो और तुम पति का हाथ पकड़ो! वे तो मण्डप में बता देंगे कि पति का धर्म क्या है और पत्नी का धर्म क्या है। पुष्प-वाटिका में गुरुदेव सामने नहीं है, पर उनकी आज्ञा वहाँ भी है।

यह प्रसंग शृंगार-भावना और शृंगार रस का है। ब्रह्म क्या है? वही तो समस्त रसों का रस है। उसे हम कभी शान्त

रस के रूप में देखते हैं और कभी श्रृंगार रस के रूप में। अद्वैत ज्ञान में वह शान्त रस है और भक्ति-भावना के सन्दर्भ में वह श्रृंगार रस है। पुष्प-वाटिका में जो ईश्वर दिखाई दे रहा है और धनुष-यज्ञ में जो ईश्वर दिखाई दे रहा है, उसमें अन्तर है। अन्तर यह है कि पुष्प-वाटिका में पुरुष का प्रवेश नहीं है। पुरुष रूप में यदि कोई प्रवेश करता है, तो वे हैं लक्ष्मण जी। एक लक्ष्मण जी को छोड़कर वहाँ अन्य कोई पुरुष नहीं है। वहाँ केवल सीताजी और उनकी सखियाँ हैं। गोस्वामी जी ने ज्ञान-वैराग्य आदि को पुरुष माना है और भक्ति को नारी। कई लोग कहते हैं कि वे नारी-जाति के विरोधी थे, नारी-निन्दक थे। पर गोस्वामी जी बहुत बड़ी बात कहते हैं – उनके लिए माया भी नारी है और भक्ति भी नारी –

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ।
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बिचारी।। ७/११६/३-४

इसलिए पुष्प-वाटिका प्रसंग में जनक-नन्दिनी सीता जी का वर्णन दीप-शिखा के रूप में किया गया है और अरण्य-काण्ड में भी नारी-सौन्दर्य के लिए दीप-शिखा का दृष्टान्त दिया गया है। पुष्प-वाटिका में प्रभु ने जब जनक-नन्दिनी सीताजी को देखा तो उन्हें ऐसा लगा – जैसे किसी भव्य भवन में दीपक जल उठे इसी प्रकार से सखियों के बीच में जनक-नन्दिनी दीपशिखा के समान प्रकाशित हो रही हैं –

सुंदरता कहुँ सुंदर करई।
छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई।। १/२३०/७

और अरण्यकाण्ड के अन्त में गोस्वामी जी कहते हैं – नारी का सौन्दर्य दीपशिखा है और मन पतंग है –

दीप सिखा सम जुबति तन
मन जनि होहि पतंग।। ३/४६/ख

इसका अर्थ यह नहीं कि नारी मात्र निन्दनीय है। **नारी के ये दो रूप हैं – माया भी नारी है और भक्ति भी।** जो गोस्वामी जी भक्तिरूपा सीताजी के उपासक हों, वे भला क्या नारी-निन्दक होंगे? वे नारी-निन्दक कैसे हो सकते हैं! वे तो नित्य ही भक्ति-स्वरूपा सीताजी की वन्दना करते हैं, उन्हीं की महिमा का गान करते हैं।

पर उनके द्वारा बताया गया अन्तर समझने योग्य है। जैसा कि आप जानते हैं **दीपक में दो बातें हैं – एक तो प्रकाश है और उसके साथ-साथ इसमें दाहकता – जलाने की शक्ति भी है।** अब इसकी दाहकता के सन्दर्भ में पतंग का दृष्टान्त देखें। आप देखते हैं कि बरसात में जब दीपक जलता है, तो पतंगे उस दीपक के शिखा पर जाकर भस्म हो जाते हैं। कवियों ने यह मान लिया कि पतंगा बड़ा प्रेमी है। उसमें प्रेम का कोई लक्षण नहीं, मोह तथा अविवेक का ही लक्षण है। दूसरी ओर दीप-शिखा में प्रकाश भी है। **बुद्धिमान व्यक्ति वह है जो दीप-शिखा से प्रकाश ले ले और अज्ञानी व्यक्ति वह है जो दीप-शिखा से अपने आप को जला ले।** मानस में हमें यह संकेत मिलता है कि सौन्दर्य के द्वारा आप प्रकाश भी पा सकते हैं और सौन्दर्य के द्वारा स्वयं का विनाश भी कर सकते हैं।

भक्ति तो विशुद्ध नारी-भावना है। यह नर या नारी भावना देह के सन्दर्भ से जुड़ी हुई नहीं है। वस्तुतः वृत्ति की दृष्टि से नर और नारी भावनाएँ पाई जाती हैं। किसी-किसी में भावुकता, कोमलता, सहृदयता और समर्पण का भाव रहता है, वे सब नारी के भाव हैं। और जहाँ पौरुष, पराक्रम, विवेक, विचार हैं, वे सब पुरुष-भाव हैं। दोनों के जीवन में दोनों की जरूरत है। इस विषय में श्रीमद्-भागवत में आप वह प्रसिद्ध दृष्टान्त पाते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण अकेले हैं और अनेक गोपियों के बीच में अकेले नृत्य कर रहे हैं। वहाँ पर अकेले भगवान के साथ ये जो गोपियाँ हैं, वे भक्ति-भावना और प्रेम की साक्षात् प्रतिमूर्तियाँ हैं। वहाँ जो नृत्य हो रहा है, भगवान की लीला का आस्वादन हो रहा है, वह श्रृंगार रस की लीला है। वहाँ का वर्णन बड़ा श्रृंगार भावना से युक्त है। लेकिन वहाँ पुरुष भावना नहीं है।

पुरुष भावना क्या है? पुरुष में अपने अधिकार की वृत्ति है। **नारी में समर्पण की प्रधानता है, तो पुरुष में अधिकार की वृत्ति।** पर शरीर से कौन नारी दिखाई दे रही है और कौन नर – यह नहीं। जिसमें समर्पण-वृत्ति की प्रधानता है, तो उसमें वह नारी-भावना का, पवित्र भावना का प्रतीक होगा। और जब अधिकार की वृत्ति आ जाय, तो व्यक्ति में अपने अहं की प्रधानता को लेकर पुरुष-भावना दिखाई देती है। इसीलिए अयोध्या में भी जब रामराज्य हुआ तो गोस्वामी जी लिखते हैं – सरयू एक, उसकी धारा एक, जल एक, पर घाट अलग-अलग बने हुए हैं। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जल भी वही, धारा भी वही पर घाट एक नहीं है। वहाँ पर घाटों का जो वर्णन है, उसमें एक तो है राजघाट –

राजघाट सब बिधि सुन्दर बर।
मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।। ७/२९/३

अयोध्या में एक राजघाट है, जहाँ पर चारों वर्णों के लोग स्नान करते हैं। वहाँ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – सभी स्नान करके धन्य होते हैं। उसके पश्चात् फिर एक घाट ऐसा बनाया गया, जहाँ पर कहा गया – सरयू में एक घाट ऐसा है जहाँ पर पुरुष को प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं है –

पनिघट परम मनोहर नाना।
तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना।। ७/२९/२

बहिरंग मर्यादा की दृष्टि से यह एक अलग बात है, पर इसका अर्थ यह है कि यदि आपमें भोक्तापन की, अधिकार

की वृत्ति है, तो आपमें कोमलता का उदय नहीं हो सकता। वह प्रसिद्ध गाथा आपने सुनी होगी। मीराबाई जब वृन्दावन-धाम में गई और सुना कि यहाँ सनातन गोस्वामी नाम के एक बड़े प्रसिद्ध सन्त हैं, तो वे उनका दर्शन करने गईं। गोस्वामी जी का नियम था कि वे स्त्रियों से नहीं मिलते थे। वह मानो उसकी एक वृत्ति थी, एक नियम था। उस नियम के तहत वे चल रहे थे। मीराबाई ने जब निवेदन किया कि मैं महाराज जी का दर्शन करना चाहती हूँ, तो उनके शिष्यों ने बताया कि उनका नियम है कि वे स्त्रियों से नहीं मिलते। वह एक नियम था। नियम के अपने अर्थ होते हैं, उसकी एक मर्यादा होती है, उसका भी महत्त्व है, लेकिन मीराबाई ने जो उत्तर दिया, वह बड़ा भावनात्मक था। वे बोलीं – "अच्छा, मुझे तो पता ही नहीं था कि वृन्दावन में कोई पुरुष भी रहता है। मैं तो यही समझती थी कि वृन्दावन में एकमात्र पुरुष भगवान हैं। पर अब पता चला कि आपके गुरुजी भी यहाँ रहते हैं।" सन्त ने सुना, तो गद्गद होकर बाहर निकल आये।

यह जो भावनात्मक रस है, शृंगार रस है, उसकी समस्या यही है कि शृंगार रस में जहाँ मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि नारी-पुरुष किसी न किसी रूप में बहिरंग शृंगार भी करते हैं और अन्तर-शृंगार भी होता है। अब उस **शृंगार के द्वारा हमारी वृत्ति परिशुद्ध भी हो सकती है और कलुषित भी।** इसलिए सीताजी यदि दीपशिखा हैं, तो भगवान राम उनका परिचय देते हुए लक्ष्मण से कहते हैं –

तात जनक तनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहि कारन होई।। १/२३१/१

और वे बड़ी सुन्दर बात कहते हैं – वे इस वाटिका में प्रकाश करते हुए चल रही हैं –

पूजन गौरी सखीं लै आईं।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं।। १/२३१/२

यह दीपक के प्रकाश का पक्ष है। आप दिया जलाएँगे, तो उसमें तेल अथवा घी डालेंगे, वह स्नेह का प्रतीक है, पर वह स्नेह आपको प्रकाश दे रहा है या जला रहा है?

अत: यहाँ पुष्प-वाटिका में गुरु का सशरीर प्रवेश नहीं है, पर गुरुदेव की ही आज्ञा लेकर श्रीराम वहाँ आए हुए हैं। वहाँ श्रीराम के साथ एक अन्य पुरुष के रूप में लक्ष्मण जी भी हैं, पर देखने मात्र के लिए ही वे एक अन्य पुरुष हैं, पर वस्तुत: तो वे श्रीराम से अभिन्न हैं, मानो उनकी पृथक् सत्ता ही न हो। भगवान राम का जब हनुमान जी से प्रथम मिलन हुआ, तो प्रभु ने कहा – तुम मेरे व्यवहार से यह न समझ लेना कि मैं तुम्हें नहीं चाहता या कम चाहता हूँ – तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।। ४/३/७

जरा सोचिए – यह हनुमान जी की महिमा है या लक्ष्मण जी की? – हनुमान जी की भी है, पर उससे अधिक लक्ष्मण जी की है। हनुमान जी की महिमा है, वह तो पग-पग पर दिखाई देती है, पर आप कल्पना कीजिए कि प्रभु हनुमान जी से कहें कि तुम लक्ष्मण से दूने प्रिय हो और लक्ष्मण जी नाराज हो जायँ कि 'अच्छा, हम सारा घर-बार-पत्नी छोड़कर चौदह बरस से सेवा कर रहे हैं और वे एक क्षण में दूने हो गए। ठीक है, अब इन्हीं को लेकर रहिए, हम तो चले।' लेकिन कैसी अनोखी बात है! प्रभु ने हनुमान से एकान्त में पूछा – जब मैंने कहा कि तुम लक्ष्मण से दूने प्यारे हो तब तुम्हें कैसा लगा? हनुमान जी बोले – प्रभो, मैं समझ गया, आप लक्ष्मण का परिचय दे रहे थे। – क्या परिचय दे रहे थे? – "परिचय यह कि संसार का तो नियम है कि किसी के लिए बहुत स्नेह प्रगट करेंगे, तो कहेंगे तुम तो प्राण से भी अधिक प्रिय हो। अब यह सुनकर प्राण रुष्ट तो नहीं हो जाता कि आप यदि ऐसा कहते हैं तो अब हम आपको छोड़कर जा रहे हैं।" यदि मुँह से यह शब्द निकल जाय और प्राण शरीर से निकलकर चला जाय, तब तो लोग यह शब्द बोलना ही बन्द कर देंगे। पर ऐसा तो नहीं होता। – क्यों? – कहनेवाला और प्राण दो अलग अलग थोड़े ही हैं, प्राण तो व्यक्ति से अभिन्न है। व्यक्ति और प्राण जब रहेंगे, तो साथ ही रहेंगे। हनुमान जी बोले – "आपने जब कहा कि तुम लक्ष्मण से दूने प्यारे हो, तभी मैं समझ गया; आप चाहते तो कह सकते थे कि हनुमान तुम प्राण से अधिक प्रिय हो, पर आपने प्राण न कहकर लक्ष्मण का नाम लिया तो मैं समझ गया कि लक्ष्मण जी आपके प्राण हैं।" यह केवल हनुमान जी का ही बोध नहीं है, सूर्पणखा ने भी रावण से यही कहा कि उस राजकुमार के साथ एक और राजकुमार है। रावण ने कहा – अच्छा, वे दो हैं? सूर्पणखा बोली – "हैं तो दो, पर छोटा भाई बड़े का **नित्यं प्राणो बहिश्चरः** – सदा बाहर विचरनेवाला प्राण है। उसे देखकर यह लगता ही नहीं कि यह राम से अलग है। वह तो मानो राम का प्राण ही है।"

वस्तुत: जब संसारी व्यक्ति, भोगवादी व्यक्ति शृंगार रस का आनन्द लेना चाहता है, तो वह भी लेता है, पर इस रस का परिपाक कहाँ होता है, इसकी पराकाष्ठा क्या है? श्रीमद् भागवत महापुराण में कहा गया है – **वैराग्यराग रसिको भव भक्तिनिष्ठा** – सब रसों का वर्णन करने के बाद अन्त में कहा गया – **वैराग्य रस**। आपने यहाँ भी देखा होगा, रासलीला मण्डलियाँ आती हैं, उसमें प्रारम्भ में जब गायन किया जाता है तब उसमें ये पंक्तियाँ गाई जाती हैं – जब देह का भान न रह जाय, तब रास में प्रवेश मिलता है –

पंचवे भूलै देह सुधि, छठी भावना रास।

बस, मुख्य बात यही है। जब देहवृत्ति होगी, तो मनुष्य

शरीर में आयेगा। और श्रृंगार रस की चरम परिणति यह है कि हम देह के द्वारा देह से ऊपर उठ गये। लक्ष्मण जी तो वस्तुत: देह से परे हैं, वे राम के प्राण हैं –

राम बिलोकि बंधु कर जोरें।
देह गेह सब सन तृनु तोरें।। २/७०/६

अब यदि बहिरंग दृष्टि से देखें, तो लक्ष्मण जी एक पुरुष के रूप में दिखाई दे रहे हैं, पर अन्तरंग दृष्टि से देखें तो वे परम विरागी हैं। उन्हें देहबोध है ही नहीं – न नारी भाव है, न नर भाव। वे तो केवल श्रीराम की छाया मात्र हैं। वे परम विरागी लक्ष्मण पुष्प-वाटिका के उस सारे दृश्य को देखते हैं, उसका वर्णन सुनते हैं और देख-सुनकर भी उनमें वासना का उदय नहीं होता। वस्तुत: पुष्प-वाटिका में प्रवेश का अधिकार बिना लक्ष्मण-वृत्ति के हो नहीं सकता। बड़ा अन्तर है। पुष्प-वाटिका के भगवान भक्तों के भगवान हैं। भक्तों के भगवान के जो लक्षण माने जाते हैं, वे सारे लक्षण यहाँ भगवान में दिखाई दे रहे हैं। वेदान्त के ब्रह्म और भक्तों के भगवान में क्या अन्तर है? एक अन्तर तो यों कहें कि इस वाटिका में प्रभु ने एक वस्तु को तोड़ा और धनुष-यज्ञ के मण्डप में दूसरी वस्तु को। **पुष्प-वाटिका में उन्होंने फूल तोड़े और महाराज जनक के मण्डप में धनुष को तोड़ा। फूल कोमलता की पराकाष्ठा है और शंकर जी का धनुष कठोरता की।** अब दोनों स्थलों में एक अन्तर है। इसको लेकर एक व्यंग्य-विनोद, जो श्रृंगार रस का एक लक्षण भी है गोस्वामी जी ने वर्णन किया बरवै रामायण में। जब विवाह मण्डप में कन्यादान का कार्य सम्पन्न हो गया, शास्त्र की विधि का कार्य सम्पन्न हो गया, तो अब वहाँ पर जो जनक-नन्दिनी की सखियाँ हैं, वे इन चारों राजकुमारों को कोहबर में ले जाती हैं। वहाँ कोहबर में जनक जी नहीं हैं, सुनयना जी नहीं हैं, वहाँ केवल युवतियाँ और चारों राजकुमार हैं। **बरवै रामायण** गोस्वामी जी का छोटा-सा ग्रन्थ है। उसमें गोस्वामी जी ने बड़े मधुर शब्दों में वर्णन किया है।

गोस्वामी जी से किसी ने कहा – सीताजी की सुन्दरता को देखकर कवि के हृदय में आया कि इस सुन्दरता के लिये कोई उपमा तो दे। तो बोले – उपमा तो वैसी कोई दिखाई नहीं दे रही है। किसी ने कहा – सीताजी चम्पकवर्णी हैं। चम्पे के फूल का रंग जैसे सुनहला होता है, वैसे ही इनके शरीर का रंग है। बरवै रामायण में गोस्वामी जी कहते हैं – सखी ने कहा कि सीताजी जब चम्पा के फूलों की माला पहन लेती हैं, तो चम्पा के फूल का रंग एक जैसा दिखाई देता है। पर थोड़ी देर बाद कलई खुल जाती है। – कैसे? – बोले – थोड़ी देर बाद जब चम्पा के फूल कुम्हला कर काले पड़ गये, तब पता चल गया कि चम्पा के फूल में वह सुन्दरता कहाँ आ सकती है, जो सीताजी के श्रीविग्रह में है –

चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हिवरें जब कुँभिलाइ।। ब.रा. १/१२

चम्पा कुम्हला जाता है, पर सीताजी का सौन्दर्य कभी कुम्हलाता ही नहीं। किसी ने कहा – फिर कह दीजिये कि इनके शरीर का वर्णन सोने जैसा है। सोना तो नहीं कुम्हलाता। गोस्वामी जी ने कहा, "पर कठिनाई यह है कि –

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सिय अंग सखि कोमल कनक कठोर।। ब.रा. १/१०

– "रंग तो ठीक है, पर कहाँ उनके अंग की कोमलता और कहाँ सोने की कठोरता? यह तो कोई उपमा नहीं है।"

श्रीराम युवतियों के बीच बैठे हुए हैं और व्यंग्य-विनोद प्रारम्भ होता है। श्रीराम स्वभाव से बड़े संकोची हैं। वे शान्त भाव से बैठे हुए हैं और सखियाँ चाहती हैं कि कुछ बातें हों, पर बातें तो तभी होंगी, जब सामनेवाला रुचि दिखाये। भगवान की स्तुति तो जागतिक भाषा में हो जाती है, पर प्रेम की भाषा सीधी-सादी नहीं होती। हम जिस भाषा में भगवान की स्तुति करते हैं, उसमें यही तो कहते हैं कि आप कितने उदार हैं, कितने कोमल हैं, कितने दयामय हैं; पर बरवै रामायण में आता है कि एक सखी ने भगवान राम से जो वाक्य कहा वह तो कभी किसी ने नहीं कहा होगा।

उसने कहा – जनकपुर में कितने ही राजा और राजकुमार आए, पर ये साँवले रंग के राजकुमार जैसे घमण्डी हैं, वैसा दूसरा कोई नहीं आया। यह तो नई बात थी। श्रीराम को गर्वीला तो कभी किसी ने नहीं कहा। वे तो नम्रता और शील के मूर्ति हैं। दूसरी सखी ने पूछ दिया – तुम कैसे कहती हो कि घमण्डी हैं? बोली – "देखो, अपनी सुन्दरता में ऐसे मग्न हैं कि अपने को ही देख रहे हैं। यहाँ और भी तो इतने लोग बैठे हैं, यदि इन्हें अपने रूप का घमण्ड न होता, तो औरों को भी तो देखते कि आसपास कौन बैठे हैं।" तीसरी बोली – जरा दृष्टि उठाकर देखें, तो यह गर्व तत्काल नष्ट हो जायेगा। – कैसे? उसने स्पष्ट कह दिया – यहाँ पर अपनी सुन्दरता का गर्व मत कीजिएगा। थोड़ा दृष्टि उठाकर सीताजी को देख लीजिए। तुलना करने पर आप तो सीताजी की छाया जैसे लगते हैं –

गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाहँ।। ब.रा. १/१८

जब यह व्यंग्य चल रहा था, तो प्रभु कुछ बोल नहीं रहे थे, केवल मुस्करा रहे थे। लक्ष्मण जी से नहीं रहा गया, वे बोल पड़े – "हमारे प्रभु को तो आज तक कभी किसी ने नहीं कहा कि उनको गर्व है। पर अगर आप कहती हैं, तो वह गर्व गर्व कहाँ है, वह तो सत्य है। आप भूल गईं कि शंकर का धनुष न टूटने पर आप लोगों की क्या दशा हो रही थी!

हमारे राघवेन्द्र ने यदि शंकर के धनुष को न तोड़ा होता, तो आप लोगों की क्या दशा हुई होती? उन्होंने धनुष तोड़ा है, अत: यदि वे गर्व करें तो उचित ही है।'' सखियाँ बोलीं – धनुष-यज्ञ के पहले पुष्प-वाटिका की याद करो। – क्या? बोलीं – ''जिस समय तुम्हारे बड़े भाई पुष्प तोड़कर लता-कुंज से बाहर निकले, तो हम लोगों ने देखा – उनके माथे पर पसीने की बूँदें थीं –

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। १/२३३/३

– जिनको फूल तोड़ने में पसीना आ सकता है, वे क्या शंकर जी के धनुष को तोड़ सकते हैं?''

यह बहुत बड़ी बात है। धनुष तोड़ने के प्रसंग में श्रीराम के शरीर पर श्रम के कोई लक्षण नहीं थे। उनके माथे पर पसीने की बूँदें नहीं थीं, पर जब वे पुष्प तोड़कर आए तो उनके माथे पर श्रमबिन्दु हैं। सखियाँ कहती हैं – ''ये तो इतने सुकुमार हैं, क्या ये धनुष तोड़ सकते हैं? वह तो हमने तुड़वा दिया।'' तात्पर्य यह कि भक्तों के भगवान वही करते हैं, जो भक्तों की भावना प्रेरित करती है, शक्ति देती है।

समर्पण की जिस प्रक्रिया का दृश्य दिखाई पड़ा था। जब गुरुदेव ने यह कहा था – 'उठहु राम' और श्रीराम उठकर खड़े हुए, तो उन्हें देखकर यह नहीं लगा कि वे कोई बड़ा कार्य करने जा रहे हैं। जब उठे तो – **ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ** – सहजता के साथ उठ खड़े हुए और उसके बाद जब चले तो –

सहजहिं चले सकल जग स्वामी। १/२५५/५

उनको देखकर ऐसा लगा – ''अच्छा, तो यही वह राजकुमार है, जिसको फूल तोड़ने में पसीना आ गया था।'' सुन्दर इतने हैं वे कि सभी जनकपुरवासी नर-नारी चाहते हैं कि इन्हीं से सीताजी का विवाह हो। तब उन लोगों ने समर्पण किया। कैसे? समर्पण बड़ा कठिन कार्य था। उन लोगों ने जितने भी पुण्य, व्रत, पूजन, सत्कर्म आदि किये थे, उन सबका स्मरण करके वे सारे पुण्य देवताओं को समर्पित कर दिये और बोले – हे गणेश जी, हमारे पुण्य का फल हमें नहीं चाहिए, श्रीराम को दे दीजिए ताकि उनमें इतनी शक्ति आ जाय कि वे धनुष तोड़ सकें –

जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।।
तौ सिव धनु मृनाल की नाईं।
तोरहुँ राम गनेस गोसाईं।। १/२५५/७-८

इतना बड़ा समर्पण? भगवान से माँगनेवालों की तो भीड़ लगी रहती है, पर जहाँ भगवान को देने के लिए सारे जीवन के पुण्य अर्पित किए जा रहे हों, वहाँ तो भावरस की – समर्पण की पराकाष्ठा है। इसी का आनन्द लेने के लिए तो प्रभु सहज भाव से चल रहे हैं। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों चलते हैं, त्यों-त्यों जनकपुरवासी समस्त देवी देवताओं का स्मरण करते हैं। श्रीराम का जो रूप पुष्प-वाटिका में है और जो रूप धनुष-यज्ञ में है, उसमें एक अन्तर है। भक्तों के भगवान का अवतार हुआ है – संसार में भक्तों और सन्तों का श्रम दूर करने के लिए –

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। ७/५०/५
जो आनंद सिंधु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा।। १/१९७/५-६

भक्तों के भगवान भक्तों को विश्राम देते हैं। विश्राम देने का अभिप्राय यह है कि भक्त कह देते हैं कि कर्ता तो एक मात्र प्रभु ही हैं जो कुछ होता है वे प्रभु ही करते हैं, इसलिए श्रम भी उन्हीं को होता है। अब यह पुष्प-वाटिका में जो पुष्प है, साधना के सन्दर्भ में आप पढ़ते हैं – शम, यम, नियम आदि सब साधन ही फूल हैं –

सम जम नियम फूल फल ग्याना। १/३७/१४

उन फूलों को भगवान जब अपने हाथ में लेते हैं, तो उन्हें पसीना आ जाता है। भगवान मानो भक्तों को यह आश्वासन देते हैं कि तुम्हें श्रमित होने की आवश्यकता नहीं है, तुम्हारे सारे श्रम का भार मैं धारण करता हूँ। भगवान के माथे का श्रमबिन्दु जीव को मानो आश्वस्त करता है। पर जनक के इस मण्डप में जो ईश्वर हैं, वे पुष्पवाटिका के – भक्तों के भगवान नहीं हैं। वेदान्ती की मान्यता है कि ब्रह्म कुछ नहीं करता और भक्त कहते हैं कि सब कुछ भगवान ही करते हैं –

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।
करै अन्यथा अस नहिं कोई।। १/१२८/१

वेदान्त शास्त्र कहता है कि ब्रह्म अकर्ता है, वह कुछ नहीं करता और उसके लिए एक शब्द चुना गया कि वह द्रष्टा है। जैसे कोई घटना हो रही हो और आप उसे देख रहे हों। उसे देखकर यदि आपके मन में कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती, तो आप उसके केवल द्रष्टा हैं और यदि उस घटना से युक्त हो जायँ, तो दृश्य हैं। अब ऐसी स्थिति में जनक की सभा के जो भगवान हैं, वे वही भगवान नहीं हैं जो पुष्प-वाटिका के हैं। पुष्प-वाटिका में साक्षात सीताजी हैं। वे ही मायारूपा हैं, वे ही भक्तिरूपा हैं। वहाँ भगवान कर्ता और श्रमित होनेवाले, भक्ति की भावना को परिपूर्ण करनेवाले हैं। कूटस्थ शब्द को सुनकर बड़ा अटपटा-सा लगता है, परन्तु उसका सीधा-सा अर्थ है – जैसे लुहार की निहाई। लुहार लोहे को गरम करके जिस दृढ़ लौह-खण्ड पर रखकर उसे हथौड़े से पीटकर आकार देता है, उस लौह-खण्ड को निहाई कहते हैं। लुहार उस निहाई पर गरम लोहे को पीट कर कई आकार देता है, अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाता है, पर उस

निहाई पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह न हिलता-डुलता है और न उसमें कोई विकृति ही आती है। इसी प्रकार वेदान्त का ब्रह्म है – कूटस्थ-अकर्ता। श्रम क्यों होगा, पसीना क्यों आयेगा? वह तो अकर्ता है, द्रष्टा है, वह दृश्य नहीं है। जो कुछ हो रहा है, उसे वह देख रहा है और द्रष्टा होने के साथ ही वह ब्रह्म कूटस्थ भी है।

जनक की सभा में भगवान बैठे हैं। धनुष नहीं टूट रहा है। भगवान क्यों नहीं उठे? बोले – जनक बहुत बड़े ज्ञानी बनते हैं, जरा देखें, क्या वे ब्रह्म को कूटस्थ देखना चाहते हैं, द्रष्टा देखना चाहते हैं? तब गुरु की ओर से यह संकेत आता है। गुरु की भूमिका क्या है? वस्तुत: सत्य का साक्षात्कार भगवान का संकल्प नहीं है। यह तो गुरु की भूमिका है कि वे शिष्य को उपदेश दें – **तत्त्वमसि**, इसके बाद शिष्य को **अहं ब्रह्मास्मि** आदि का बोध हो। गुरु ही बोध कराते हैं। अत: श्रीराम, जो द्रष्टा, कूटस्थ, अचल, अकर्ता ब्रह्म हैं, उन्हें करने के लिए काम दिया जा रहा है। यह कार्य उन्हें गुरुदेव दे रहे हैं। यहाँ एक बड़ी मीठी बात है। भगवान जब धनुष के पास पहुँचे, तो लोगों ने देखा कि धनुष सहसा उठ गया। यह कैसे हो गया? इसके लिए बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया गया। श्रीराम जब गुरुजी की आज्ञा से उठे, तो उनमें हर्ष और विषाद दोनों नहीं थे। हर्ष-विषाद जीव का धर्म है। ब्रह्म में न हर्ष है, न विषाद। परन्तु हर्ष-विषाद रहित ब्रह्म के द्वारा इस समय कार्य लिया जा रहा है, विश्वामित्र द्रष्टा से अनुरोध करते हैं कि दृश्य में भाग लेकर धनुष को तोड़ो। अब तोड़ें, तो कर्ता माने जायँ, पर उनमें हर्ष-विषाद दोनों नहीं है।

राजा लोग धनुष को तौलने का प्रयत्न कर रहे हैं। तौलने का सिद्धान्त क्या है? पहले तो यह देख लीजिए कि जिस तराजू पर आप तौलेंगे, वह सही है या नहीं। कुछ दुकानदार ऐसा तराजू रखते हैं, जो देखने में तो ठीक लगता है, परन्तु कम वजन की चीज को वह अधिक वजन दिखा देता है और आपको अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति कहता है कि पहले अपना तराजू दिखाओ कि ठीक है या नहीं? तराजू का सिद्धान्त क्या है? तौलना आपका नहीं, तराजू का काम है। आपको जो तौलना हो, उसे तराजू के एक पलड़े पर रख दीजिए। आपको और कुछ नहीं करना है, केवल तराजू के दूसरे पलड़े पर तौलने के बाट रख दीजिए। जब बाट वस्तु से भारी होगा, तो वस्तु स्वयं तुल जाएगा, पलड़ा ऊपर उठ जाएगा। पर तौलने के बाट का वजन यदि वस्तु से कम होगा, तो वस्तु का पलड़ा नहीं उठेगा।

राजा लोग धनुष को तौलने की चेष्टा कर रहे थे, पर तराजू तो उनका ठीक था ही नहीं। पर जब भगवान राम उठे तो – उनमें न हर्ष है न विषाद, यही समत्व है –

हरषु बिषादु न कछु उर आवा ।। १/२५४/७

कोई बोला – कुछ भी हो, पर अन्त में ब्रह्म को तोड़ना तो पड़ा ही। इस पर गोस्वामी जी ने बड़ा सुन्दर वाक्य कहा – भगवान राम जब धनुष के पास पहुँचे, तब उन्होंने मन-ही-मन गुरु को प्रणाम किया –

गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा । १/२६१/५

इसका तात्पर्य? बोले – मैं तो कुछ करूँगा नहीं, यदि तराजू का पलड़ा उठ गया, तो वह भार किसका होगा? गुरु अर्थात् जिसका भार अधिक हो। भार का अर्थ मोटा-तगड़ा होने से नहीं है, गुरु अर्थात् जो ज्ञान से भारी हो, श्रेष्ठ हो। भगवान मानो बोले – "मैंने तो कुछ किया ही नहीं, एक ओर धनुष का भार था, लोग उसे उठा नहीं पा रहे थे। मैंने गुरु का भार दूसरे पलड़े पर रख दिया, धनुषवाला पलड़ा स्वयं ही उठ गया, इसमें मेरा कर्तृत्व कहाँ है?" अकर्तृत्व में स्थित रहकर भी भावना की पूर्णता के लिए, व्याकुलता और निराशा को दूर करने के लिए समत्व में स्थित अकर्ता ब्रह्म करता हुआ-सा प्रतीत होता है। यह तत्त्वज्ञान बिना गुरु की कृपा से जीवन में नहीं आता। अत: जब तक विश्वामित्र ने आदेश नहीं दिया, तब तक ब्रह्म का यह रूप सामने नहीं आया।

❖ (क्रमश:) ❖

दो कुण्डलियाँ

जितेन्द्र कुमार तिवारी

(१)

पुण्य कमाते वे नहीं, जो धन से परिपूर्ण ।
दया-भाव जिनमें नहीं, वे हैं सदा अपूर्ण ।।
वे हैं सदा अपूर्ण, न धन सच्चा सुख देता ।
असन्तोष अन्तर का, चैन न लेने देता ।।
कह 'जितेन्द्र' कविराय, कमाओ सच्चाई से ।
रक्खो मन सन्तोष, जूझकर कठिनाई से ।।

(२)

पर-हित करना पुण्य है, पर-पीड़ा है पाप ।
धर्म जानकर मिटाओ, दीनों का सन्ताप ।।
दीनों का सन्ताप, अभावों में जो पलते ।
इच्छाओं को मार, सदा हाथों को मलते ।।
कह 'जितेन्द्र' कविराय, उपेक्षित को न सताओ ।
सबमें हैं भगवान, प्रेम से गले लगाओ ।।

आत्माराम की आत्मकथा (५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे है। इसके पूर्व हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

त्रिवेणी के पथ पर चल रहा था। चुँचुड़ा में हुगली नदी पार करके गंगा के किनारे किनारे त्रिवेणी के पथ पर चल रहा था। जब त्रिवेणी के घाट पर पहुँचा, तब दिन के एक बज रहे थे। कहीं किसी जान-पहचान वाले से मुलाकात न हो जाय, इसलिए एक छोटे-से घाट पर स्नान आदि किया। इसके पिछले दिन कुछ भी खाया नहीं था और जूते न होने तथा बहुत चलने के कारण पैरों में सूजन हो गया था, जिसके कारण बहुत दर्द भी हो रहा था। काफी दुर्बलता का बोध हो रहा था। स्नान करके बैठ कर सोच रहा था – क्या करूँ? तब भी पास में चार पैसे थे। सोचा – मुरमुरे खरीद कर गंगा-किनारे बैठकर खाऊँ और फिर भरपेट गंगा का पानी पीने के बाद तानकर सो जाऊँ, उसके बाद – माँ जो करेगी, वही होगा – 'माँ, सब तेरी ही इच्छा है, तू इच्छामयी तारा है।' यदि उनकी इच्छा इस शरीर को भूख से पीड़ित करके नष्ट करने की हो, तो कौन रोक सकेगा!

"हे मन, Be prepared for the worst – बुरे-से-बुरे हाल में भी विचलित होने से काम नहीं चलेगा। दृढ़ रहना होगा, व्रत करना होगा। माँ, तेरी इच्छा पूर्ण हो" – ऐसा सोचते सोचते बाजार की ओर चला। रास्ते में एक ब्राह्मण भिखारी से पूछा – "मुरमुरे की दुकान किधर है?" कुछ देर तक मेरी ओर देखने के बाद उसने पूछा – "खाना नहीं हुआ क्या? यदि प्रसाद पाने की इच्छा हो, तो यहाँ एक जमींदार के मन्दिर में प्रतिदिन दो-ढाई बजे अतिथि, ब्राह्मण, साधु तथा फकीरों को खाना देते हैं। आप अनजान लगते हैं, चलिए रास्ता दिखा देता हूँ, ज्यादा दूर नहीं, पास ही है।" मैंने पूछा – "अतिथि होने से ही खाने को देते हैं या पहले से कहना पड़ता है।" – "हाँ हाँ, मैं आज तीन वर्ष से यहीं हूँ, मुझे सब पता है। महाशय, आगन्तुक यदि प्रसाद-वितरण के समय उपस्थित रहे, तो उसे जरूर मिलेगा। आइये।"

इसके पहले कभी भिक्षा करके खाया नहीं था। मन में बड़ी आशंका हो रही थी – आज पहली बार भिखारी होकर अन्नद्वार पर जाना पड़ेगा। यदि अपमान करे या गाली-गलौज करके भगा दे या मारे! माँ! माँ! मुझे सहन करने की शक्ति दे। बुद्धदेव राजा के लड़के थे, पर उन्होंने भी भिक्षा करके अपनी उदरपूर्ति की थी। हजारों संन्यासी हो गये हैं, आचार्य हो गये हैं, उन सभी ने भिक्षा की थी, तो मैं कौन-सा सम्राट्-पुत्र हूँ कि मुझे भिक्षा करने में इतना संकोच हो रहा है। यदि भिखारी बन गये, तो मान-अपमान की बात मन से दूर कर दो। प्रारम्भ में आचार्यगण भी, जिन्हें हम अवतार मानते हैं, शायद भिक्षा माँगते समय अपमानित हुए थे। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों को भी जीवन में कितने कष्ट हैं, इसका अनुभव तो हुआ ही है! तो मैं क्या उनसे अधिक कुछ हूँ? यह सब सोचते-सोचते ब्राह्मण के साथ जमींदार के मन्दिर में पहुँचा। ब्राह्मण ने मुझे वहाँ बिठाकर पुजारी को मेरी बात बताई। उन्होंने चश्मे के ऊपर से सिर-से-पाँव-तक मेरा भलीभाँति निरीक्षण किया और फिर चले गये। प्रसाद-वितरण के समय मुझे केले के पत्ते पर कई प्रकार के सुगन्धित व्यंजन और चावल दिया। मेरे साथ एक और साधु भी बैठे। बाकी सबको दूसरी ओर बिठाया। बहुत भूख लगी हुई थी, भरपेट भोजन किया और माँ की आशीष-दया की बात सोचकर अन्तर में भरोसा मिला, अन्न जरूर मिल जायेगा, भगवान भूखा नहीं रखेंगे। मन्दिर के बगीचे में एक आम्रवृक्ष के नीचे कपड़ा बिछाकर लेट गया और घोर निद्रा में डूब गया। शाम को चार बजे नींद खुली, तो यह विचार आया – "यहाँ रहने से माँ को जरूर सूचना मिल जायेगी और कोई आकर मुझे पकड़कर ले जाएगा।" माँ के आदेश का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं थी। अत: वर्द्धमान की सड़क पकड़ी।

फिर वर्द्धमान की ओर —। इस बार भी पहले की तरह कुछ होगा क्या? माँ की जो इच्छा, वही होगा। अग्रसर होने के अलावा और कोई चारा भी न था। क्योंकि मठ में लौट जाने के पूर्व चार-पाँच दिन इसी तरह बिताने पड़ेंगे और परिव्राजक जीवन का कुछ अनुभव भी लेना पड़ेगा। त्रिवेणी शहर के प्राय: अन्तिम भाग में पहुँचा, तो बहुत प्यास लग रही थी। देखा, एक प्रौढ़ा अपने घर के दरवाजे पर खड़ी मेरी ओर देख रही थीं। उनकी आँखें बड़ी सुन्दर थीं – देवचक्षु जैसी। उनके मन में शायद यह प्रश्न उठ रहा था – "यह नवीन पथिक कौन है?" उनके पास गया और पीने का पानी माँगा। वे दौड़कर भीतर गईं और पानी लाकर दिया, साथ में थोड़ी-सी मिठाई भी। मैं बोला – "मिठाई नहीं चाहिए", तो उन्होंने कहा – "सिर्फ पानी कहीं दिया जाता है? इस धूप में

चलने से प्यास लगी है, कुछ खाकर ही पानी पीना चाहिए। भोजन हुआ है क्या? यहाँ के रहनेवाले तो आप नहीं हैं? कहाँ के निवासी हैं? इधर कहाँ जा रहे हैं? पैर तो चलने के कारण सूज गये हैं! आप कौन हैं?" वे एक के बाद एक प्रश्न करती रहीं – और उन बातों में कितना स्नेह-मधुर-भाव था – एक स्नेहमयी माँ के अद्‌भुत स्नेह-मधुर-दान से मेरा हृदय तृप्त हुआ। धन्य हूँ कि मैं बंगाल में जन्मा। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सारे भारतवर्ष में घूमा हूँ, पर बंगाल के समान कोमल स्नेहमय मातृत्व का विकास अन्य किसी भी प्रान्त की नारियों में बहुत कम ही देखने में आया।

इन प्रौढ़ा के प्रश्नों से मेरी आँखों में आँसू आ गये। उसे उन्होंने शायद देख भी लिया था। जब मैंने कहा – "माँ, घर-बार सब छोड़ चुका हूँ और आहार कर लिया है। अभी वर्द्धमान की तरफ जा रहा हूँ।" देखा, पहला उत्तर सुनते ही उनकी आँखें नम हो गयीं।

मैंने अविलम्ब नमस्कार किया और वर्द्धमान की ओर चल पड़ा, लेकिन पैरों में कष्ट होने के कारण ज्यादा दूर नहीं चल सका और बड़ी मुश्किल से त्रिवेणी से दो-तीन मील दूर एक गाँव में पहुँचा। संध्या हो चुकी थी, इसलिए रात में ठहरने का स्थान ढूँढ़ने लगा। सड़क के किनारे मुसाफिरों के लिए एक झोपड़ी-सी बनी हुई दिखी। वहाँ जाकर कपड़ा बिछाकर सोने की चेष्टा की – बहुत थक गया था। वर्षा का समय था और शाम होते ही मच्छरों का उपद्रव इतना बढ़ा कि निद्रा लेने की इच्छा छोड़नी पड़ी। गर्मी भी बहुत थी, कपड़ा ओढ़कर सोना भी असम्भव था। रात होते ही हजारों मच्छर आक्रमण करने लगे। नई दुल्हन की भाँति कपड़ा ओढ़कर बैठा, लेकिन गर्मी के कारण थोड़ी ही देर में कपड़ा हटाना पड़ा। सारे शरीर पर मच्छर काट रहे थे। सोचा – रात को यदि कोई और यात्री नहीं आया, तो मृत्यु अवश्य होगी। निद्रादेवी न जाने कहाँ चली गई थीं। न जाने कितनी रात हो गई थी – कभी कपड़ा ओढ़कर सोता, कभी बैठता और कभी चलता-फिरता रहता – कष्ट का कोई पार न था। इतने में दो किसान अपने बैल लिये वहाँ आये। बैलों को घास डालकर, वे टाट बिछाकर एक ओर सो गये। मेरे साथ कोई बातचीत नहीं हुई। वे नंगे बदन सो गये थे और उनका साहस देखकर मैं चकित हो रहा था। सोचा – उनसे कहूँ कि देह ढककर सोओ, उन्हें शायद मालूम नहीं कि यहाँ मच्छरों का राज्य है दस मिनट के अन्दर ही देखा – वे गहरी निद्रा में थे और खर्राटे भर रहे थे। मैं विस्मित सोचता रहा कि वे जिन्दा कैसे हैं! शायद इनको नित्य ही इन मच्छरों के राज्य में रहना पड़ता है। शरीर के कपड़ों से ढँके होने के बावजूद एक रात में ही मेरी दशा इतनी भयंकर हो गई थी। हाय रे बंगाल के विधाता, क्या बंगाल के लड़कों को भूल गये! उन्हें इतना कष्ट क्यों है! कृषक जिनको शरीर से हृष्ट-पुष्ट होना चाहिए, उनका शरीर भूखों की तरह हुआ है, गाँव-गाँव में मलेरिया और मच्छरों की वृद्धि हुई है। मच्छरों को नष्ट करने का क्या कोई उपाय नहीं है! सुना है इटली से बंगाल में मलेरिया आया है और वहाँ इसे दूर कर दिया है। पनामा से भी इसे दूर कर दिया गया है। केवल भारत और विशेषकर बंगाल में ही इसका राज्य सफल हुआ है।

किसानों के आने से मच्छर कुछ कम काटने लगे, क्योंकि उनके नंगे शरीरों पर उनका खूब भण्डारा चल रहा था, पर निद्रादेवी की उन पर इतनी कृपा थी कि मच्छरों की फौज भी उनकी निद्रा में व्यवधान नहीं डाल सकी। भोर में उठकर वे लोग त्रिवेणी की तरफ चले गये। मुझे भोर में थोड़ी नींद आ गई। जब आँख खुली, तो देखा काफी सुबह हो गई है। स्नान करके भगवान का नाम लिया और फिर चलना शुरू किया। एक गाँव के पास पहुँचा – बहुत भूख लगी थी – पास में जो चार-पाँच पैसे थे, सोचा कुछ मिठाई खरीद कर खाऊँ, इसलिए दुकान पर गया। दुकानदार अच्छा आदमी था। पूछा – कहाँ से आ रहा हूँ आदि। सब सुनकर बोला – "यहाँ एक जमींदार हैं, उनका लड़का रामकृष्ण मठ में साधु हो गया है, वहाँ जाने से खाने का प्रबन्ध हो जाएगा। चलिए आपको मकान दिखा दूँ।" मैं उसके साथ जाते-जाते सोच रहा था – कौन होगा वह साधु! क्योंकि बहुत दिनों से ही मठ के साथ गम्भीर सम्पर्क हो गया था, परिचय होने से बहुतों को चेहरे से या नाम से पहचानता था। मिठाईवाले ने बतलाया कि उसका नाम द्विजेन था।

जब जमींदार के घर पहुँचा, तो सब लोग भोजन आदि करके विश्राम कर रहे थे। उनको जगाने से मना ही कर रहा था कि एक विधवा स्त्री अन्दर से वहाँ आईं। मिठाईवाले ने ही बातचीत की। वे मुझे बैठक में बैठाकर जमींदार को सूचना देने अन्दर चली गयीं। जमींदार आकर पूछने लगे – "यहाँ क्यों आये हो? कहाँ जा रहे हो, आदि आदि?" मैंने भी यथावत् उतर दिया – "घर छोड़कर आ रहा हूँ, अभी वर्द्धमान जा रहा हूँ, बाद में रामकृष्ण मठ जाऊँगा।" पहले तो उन्होंने गृहत्याग के विरुद्ध टीका-टिप्पणी के साथ भाषण दिया और खूब नाराज हुए। मुझे डर लगा कि वृद्ध कहीं मुझे पकड़कर घर न भिजवा दें। फिर पूछा – "द्विजेन को जानते हो? माँ-बाप को वंचित करके मिशन इस प्रकार कितने ही लड़कों को भगाकर ले जा रहा है। वह मेरा लड़का है – पढ़ा-लिखाकर उसे आदमी बनाया और मिशन ने उसे फौरन लेकर साधु बना लिया।" मैंने कहा – "मिशन उन्हें या किसी को भी जोर-जबरदस्ती से साधु नहीं बनाता, सब स्वेच्छा से बनते हैं। जिन्हें मिशन के आदर्श अच्छे लगते हैं, वे लोग ही सोच-विचार कर उसके सदस्य बनते हैं। वे लोग

किसी को भी विशेष रूप से गृहत्याग करने या साधु बनने के लिए नहीं कहते। वैसे संन्यासी से उपदेश लेने पर वे स्वाभाविक रूप से त्याग की बात ही करेंगे। जिसे अच्छा लगता है, वही उन बातों को ग्रहण करता या अपनाता है। मेरी ही बात देखिए – मैंने स्वेच्छा से घर छोड़ा है और इतना कष्ट भोग रहा हूँ। उन्होंने तो मुझे घर छोड़ने की कसम नहीं दिलाई, बल्कि सच तो यह है कि (१९१३-१४ ई. में) वहाँ **बाबूराम महाराज** (स्वामी प्रेमानन्द) के पास मेरे साधु बनने तथा मठ में रहने की इच्छा प्रकट करने पर, उन्होंने कहा था – "अभी देखो, सुनो, समझो, तुम्हारे लिए ठाकुर का द्वार हमेशा खुला है, जब खुशी हो, आ जाना।"

जमींदार – "तुम भी पढ़ना-लिखना सीखकर उन्हीं की तरह बनने चले हो, इसीलिए समर्थन कर रहे हो।" इतने में पूर्व-परिचित महिला ने आकर पूछा – भोजन आदि का क्या प्रबन्ध होगा। जमींदार ने उन्हें ही कुछ रसोई बनाने का निर्देश देते हुए कहा – बाहर बनाना अन्दर नहीं, क्योंकि अशौच है। यह बात सुनकर मैं वेदना का अनुभव करने लगा, सोचा – क्या मैं इतना ही नीच हो गया हूँ कि इन लोगों के शोक के समय भोजन करने आया हूँ। नहीं नहीं, प्रभो, मुझे इतना नीच, इतना हृदयहीन मत बनाओ। मैं बोला – "रहने दीजिए, अन्यत्र कहीं भोजन कर लूँगा। मुझे माफ कीजिए, मुझे इस घटना के बारे में मालूम नहीं था।" जमींदार – "तुम इस वक्त कहाँ जाओगे, किसी से परिचय भी नहीं है। हम लोग क्या नहीं खा रहे हैं। तुम भी घर के ही एक हो। तीन दिनों पूर्व इस घर की एक कन्या की मृत्यु हो गई है। तुम्हें यदि कोई धार्मिक आपत्ति न हो, तो मेरी बहन अभी चावल बना देगी। भोजन करके चले मत जाना, मुझे भी किसी काम से वर्द्धमान जाना है, साथ चलना। कहीं पैदल जाने का प्रण तो नहीं किया है न।" मैंने उत्तर दिया – "जी नहीं। लेकिन मन में बड़ा संकोच हो रहा है – घर में इस प्रकार का दु:ख है और आप सब मेरे लिए इतना कष्ट कर रहे हैं!" जमींदार – "तो तुम इस समय कहाँ जाओगे? साधु बने हो, इसका यह अर्थ तो नहीं कि भूखे रहोगे।"

उनकी विधवा बहन – अभी भात बना लाती हूँ – कहकर भीतर चली गईं। मैं बोला – "पास में पैसे हैं, मुरमुरे खरीद कर नाश्ता कर लूँगा। और कभी आकर अन्नकूट खाऊँगा।" जमींदार ने पूछा – "कितने पैसे हैं?" मैंने कहा – "चार-पाँच पैसे।" सुनकर वे जोरों से हँसने लगे, बोले – "तुम ठीक दीजू की तरह ही हो। तुम्हें इस घर में संकोच करने की कोई जरूरत नहीं।" जब मैं भोजन करने बैठा, तो वे हँसते-हँसते अपनी बहन से कहने लगे – "यह कह रहा था चार-पाँच पैसे हैं, मुरमुरे खरीदकर पानी पी लूँगा। यह भूख क्या मुरमुरे से मिट सकती है। अभी छोटा है, समझता नहीं।"

मुझे साथ लेकर मेमरी स्टेशन आये, मेरे लिए वर्द्धमान का एक टिकट कटा दिया और स्वयं द्वितीय श्रेणी में गये। ... वर्द्धमान पहुँचकर मैं (रात बिताने को) किसी मन्दिर की खोज में शहर की ओर गया। वहाँ बाजार के प्रसिद्ध मोतीचूर और महीन बूँदी के लड्डू-विक्रेता की दुकान के सामने पहुँचा। दुकान के मालिकों में एक युवक था। मुझे देखते ही उसने भीतर आने को आमंत्रित किया। किसी परिचय की बात तो याद नहीं आ रही थी, तो भी लग रहा था कि कहीं देखा है। मुझे स्टूल पर बैठाकर वह एक ठोंगे में करीब आधा सेर मोतीचूर और महीन बूँदी ले आया और खाने के लिए खूब आग्रह करने लगा। उन दिनों मैं रात को भी भोजन करता था, इसलिए गरम गरम बूँदी बड़ी स्वादिष्ट लगी। उसने पूछा – "कहाँ जाने की इच्छा है?" इसी बीच पैर में मोच आ जाने के कारण चलने में बहुत कष्ट हो रहा था, अत: सोचा था कि वर्द्धमान में कहीं दो-एक दिन ठहरने के बाद मठ के लिए रवाना होऊँगा। उसे बताया – "दो-एक दिन विश्राम करके जब पैर का दर्द कम हो जायेगा, तब बेलूड़ मठ जाऊँगा।" – "पैदल क्यों जायेंगे, गाड़ी के लिए पैसे नहीं हैं क्या?" मैं चुप रहा। – "मै टिकट कर दूँगा। अगर आज ही जाने की इच्छा हो, तो चलिए शाम की गाड़ी है, उसमें बैठा दूँगा।" मैं राजी हो गया। हम दोनों विविध प्रकार की धर्म-चर्चा करते हुए स्टेशन पहुचे। उसने टिकट कटाकर मुझे ट्रेन में बैठाने के बाद विदा ली।

फिर वही कलकत्ते की आखिरी गाड़ी! सन् १९१४ ई में जिस समय लौटा था, उसी समय आज भी लौट रहा हूँ। इस बार भी माँ की क्या यही इच्छा है कि मैं पुन: घर लौट जाऊँ। ऐसा नहीं होगा, अब मैं घर नहीं लौटूँगा। यदि मठ में महाराज लोग स्थान न दें, यदि पूज्य बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द जी) इसलिए लौट जाने को कहें कि उनकी अनुमति लिए बिना गृहत्याग क्यों किया, तो उनकी बात तो मैं अमान्य नहीं कर सकता। फिर सोचा कि उनके आश्रय देने से मना करने पर श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) से विनती करूँगा, यदि वे भी ना कर जायँ, तो अन्त में श्रीमाँ से प्रार्थना करूँगा और यदि वे भी आश्रय न दें तो आत्महत्या कर लूँगा, इस शरीर को गंगा में विसर्जित कर दूँगा। लेकिन अब घर तो नहीं लौटूँगा – मन में ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया। फिर पहले की सारी स्मृतियाँ जाग्रत होने लगीं। उस रात की सारी घटना मन में उदित होने लगीं, जब मैं अपने मित्र के साथ लौट रहा था। फिर उसी बेलूड़ स्टेशन पर उतरना है। पर इस बार बे-टिकट नहीं हूँ, अत: पकड़े जाने का डर नहीं है, अपमानित या लज्जित होने की आशंका नहीं है। लेकिन विधि का विधान कौन टाल सकता है! यह गाड़ी अब पहले की तरह बेलूड़ में नहीं ठहरती थी। सीधे लिलुआ में ठहरती

थी। बेलूड़ स्टेशन पार करते ही डर लगा – कहीं अतिरिक्त किराया माँगे तो ! पास में जो चार-पाँच पैसे थे, वे भी कहीं गिर गये थे और जो परिचित सज्जन पहले लिलुआ में काम करते थे, उनकी भी बदली हो गई थी।

माँ जो करेगी वही होगा। जिस अपमान से डर लग रहा था, उसी का समय उपस्थित हो रहा है। लिलुआ स्टेशन पर उतर कर गेट की ओर चला। देखा, एक यूरोपियन टिकट इंस्पेक्टर टिकट ले रहे हैं और साथ में एक बंगाली टिकट कलेक्टर भी हैं। मेरा टिकट देखकर कहा – अतिरिक्त किराया दो और बंगाली टिकट-कलेक्टर से कहा – जाओ, इनसे अतिरिक्त किराया ले लो। वे सज्जन मुझे कार्यालय में ले गये। वहाँ और भी कई लोग काम कर रहे थे। मैं बोला – "पैसा मेरे पास एक भी नहीं है, यदि आपको मेरी बात का विश्वास हो, तो आप में से कोई भी आज पैसा दे दीजिये, मैं कल लौटा जाऊँगा।" एक ने कहा – यदि वे यूरोपियन साहब कहेंगे तो दे देंगे। माँ की दया से छुटकारा मिला, लेकिन उतनी रात को मठ का गेट तो बन्द हो जाता है। यदि (मुख्य द्वार के पास) दवाखाने में कोई नहीं हुआ, तो अन्दर जाना मुश्किल होगा। और यदि सड़क पर इतनी रात पुलिस तंग करे तो ! – यही सब सोचता हुआ और ठाकुर तथा श्रीमाँ से प्रार्थना करता हुआ मैं मठ की ओर चल पड़ा।

मठ के फाठक के पास पहुँच कर देखा – ताला नहीं लगा था। 'जय गुरु' कहकर अन्दर प्रवेश किया और स्वामीजी के समाधि के पास बिल्व-वृक्ष के नीचे सोने गया, क्योंकि रात को किसी को भी कष्ट देने की इच्छा नहीं थी। देखा कुछ ब्रह्मचारी वहाँ ध्यान में बैठे थे। ब्रह्म-ध्यान में मग्न थे। कितना सुन्दर दृश्य था। सामने भागीरथी बह रही थीं, धीरे-धीरे मन्द-मन्द हवा चल रही थी और वहीं भारत के भाग्य-विधाता बीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ रत्न विवेकानन्द की समाधि थी। अहा ! कितना मनोहर यह दृश्य था ! क्या पवित्र स्थल है यह मठभूमि – सौन्दर्य के साथ साथ पवित्रता रहने से अपूर्व होता है ! नित्य ही यहाँ के साधु इस परिवेश का उपभोग करते हैं, धन्य हैं वे, जिन्हें श्रीरामकृष्ण के चरण में आकर यहाँ स्थान मिला है ! मैं भी क्या यहाँ स्थान पाकर धन्य होऊँगा। भगवान क्या मुझे स्थान देंगे ! महामाया अब मुझे दुःख न देना – बहुत तो हुआ है, अब मेरे प्राणों की इच्छा पूर्ण करो। मन-प्राण से श्रीरामकृष्ण की शरण लूँगा – यह भावना बहुत दिनों से है, अब अवसर आया है श्रीरामकृष्ण के चरणों में रहने का। मठ-आश्रम तो और भी हजारों हैं। अच्छे तपस्वी, योगी, साधु भी अनेक हैं, लेकिन जिनके चरणों में सिर झुकाया है, उनके अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं ले सकूँगा माँ ! और यह नहीं हुआ तो निश्चित रूप से इस गंगा में ही इस शरीर का अन्त करूँगा।

वहाँ से लौटकर दवाखाने की एक बेंच पर लेट गया। सुबह एक परिचित साधु से भेंट हुई, जो रात को गेस्ट हाऊस में सोये थे। मुझे देखकर चकित होकर बोले – "क्यों भाई, कब आये? यहाँ क्यों लेटे रहे, मुझे बुला लेते।" मैंने कहा – "एक तो मुझे मालूम न था कि आप वहाँ है और दूसरे किसी को डिस्टर्ब करना नहीं चाहता था।" फिर दातुन करते हुए कहा – "अब आप लोगों के पास ही रहूँगा – यही संकल्प करके आया हूँ।" सुनकर वे बड़े खुश हुए और बोले – "यह तो बड़े आनन्द की बात है।" स्नानादि करने के पश्चात् श्री ठाकुर के दर्शन करके जब पूज्य **बाबूराम महाराज** के बारे में पूछा, तो पता चला नहीं हैं, शायद पूर्व बंगाल गये हैं। सुनकर चिन्ता हुई, क्योंकि जिनकी आशा से आया था, वे ही नहीं हैं। मठ का सदस्य होकर रहने के लिए किसी की अनुमति लेना आवश्यक है। पूज्य **खोका महाराज** (स्वामी सुबोधानन्द) उन दिनों मठ की व्यवस्था देख रहे थे। उनको अपना उद्देश्य बताया, तो उन्होंने कलकते से पूज्य **महाराज** (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) की अनुमति लाने के लिए कहा। **महाराज** उस समय बागबाजार में बलराम बाबू के घर में बिराजते थे। भोजन आदि करके एक जन से कुछ पैसे लेकर नाव में वराहनगर पहुँचा। वहाँ से पैदल **पू. महाराज** के पास गया। उन्हें प्रणाम करते ही वे बोले – "अरे, तूने कब से मुण्डन करवा कर यह वेश धारण किया है?" मैंने संक्षेप में अपने मन की इच्छा बतलाई। वे थोड़े गम्भीर हुए और कहा – "बाबूराम महाराज को आने दे, फिर कोई उपाय किया जायेगा।" मैंने कहा – "महाराज, तब तक मठ में रहने की अनुमति दीजिए।" उन्होंने कहा – "इसके लिए तू खोका महाराज से ही कह सकता था, तुझे तो सभी पहचानते हैं।" मैंने कहा – "सभी अवश्य पहचानते हैं, पर उन्होंने ही मुझे आपके पास अनुमति लेने भेजा है।" – "अच्छा जा, वहीं रह, लेकिन बीच-बीच में बगीचे की सँभाल करते रहना। कुछ नये पौधे लगाये हैं, उनका ध्यान रखना और मुझे खबर दे जाना। फिर कहा – "चाय पीता हो, तो तैयार हो रही है, पीकर जाना।" चाय पीकर आनन्द से भरपूर हो बेलूड़ मठ की ओर चल पड़ा।

❖ (क्रमशः) ❖

जीने की कला (३६)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

छोड़ काम, पकड़ो राम

आध्यात्मिक जीवन में शीघ्र उन्नति करने की इच्छा रखने वाले दीक्षाप्राप्त भक्तों में से भी वस्तुत: बहुत कम लोग ही सफल हो पाते हैं। यद्यपि उनमें से अधिकांश दृढ़ संकल्प तथा श्रद्धापूर्वक आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ करते हैं, तथापि वे मार्ग की विभिन्न बाधाओं तथा विफलताओं के कारण हतोत्साहित हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन की सही समझ रखनेवाले लोग भी सन्तों तथा किसी सिद्ध महात्मा के मार्ग-दर्शन तथा पवित्र आध्यात्मिक परिवेश में रहने के बावजूद पुराने संस्कारों द्वारा पथ से विचलित हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप ऐसे साधक ईश्वरानुभूति के लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं। काम साधक का एक प्रबल शत्रु है। यह काम मन, इन्द्रियों और बुद्धि में निवास करता है। भगवद्गीता हमें काम को त्यागने की शिक्षा देती है। इन्द्रिय-निग्रह या संयम अत्यावश्यक है। वैराग्य, ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता, हार्दिक प्रार्थना, भगवन्नाम-जप तथा ध्यान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। कुछ लोगों का मत है कि योगासन, हठयोग, औषधि तथा प्राणायाम के बिना ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव ही नहीं है। इस विषय में श्रीरामकृष्ण की सलाह ध्यान देने योग्य है। इससे असंख्य आध्यात्मिक साधकों को सहायता मिली है।

श्रीरामकृष्ण के एक महान् शिष्य स्वामी योगानन्द पन्द्रह वर्ष की आयु से ही दक्षिणेश्वर जाने लगे थे। एक दिन मन्दिर के सामने एक हठयोगी तरह तरह के आसन दिखा रहे थे। योगानन्द जी उसे जिज्ञासावश देखते रहे। उन्होंने सोचा कि श्रीरामकृष्ण भी काम-वासना को दूर करने हेतु कुछ आसनों या औषधियों की सलाह देंगे। श्रीरामकृष्ण ने ऐसी किसी भी चीज की सलाह न देते हुए कहा, 'भगवन्नाम जप करने से काम-वासना स्वयं ही घटती जाती है।' योगानन्द जी को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने संशयपूर्वक कहा, 'यदि नाम-जप से काम-वासना को वशीभूत करने में सहायता मिलती होती, तो भगवन्नाम जप करनेवाले अनेक लोग वासना-मुक्त हो गए होते, परन्तु क्या वे लोग सचमुच काम से मुक्त हैं!' दूसरी बार दक्षिणेश्वर आने पर जब वे हठयोगी के आसनों को देख रहे थे, तो श्रीरामकृष्ण उनके पास आए। वे योगानन्द की बाँह पकड़कर बोले, 'हठयोग की साधना करने से मन केवल देह पर ही केन्द्रित रहता है, भगवच्चिन्तन नहीं कर पाता। व्याकुलतापूर्वक ईश्वर से प्रार्थना करो। जहाँ राम, तहाँ काम नहीं। सदा राम का ही चिन्तन करो। श्रीरामकृष्ण द्वारा बताये इस उपचार को योगानन्द ने आजमाया। मन को भगवान में एकाग्र करके और भगवन्नाम जप करके उन्होंने ठाकुर के कथन की सत्यता का अनुभव किया। उन्होंने काम-वासना पर विजय प्राप्त कर ली। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए कुछ योगासनों का अभ्यास नहीं करना चाहिए। हमारे मन और शरीर पर निश्चित रूप से इन योगासनों का लाभकारी प्रभाव पड़ता है। पर यह समझ लेना परम आवश्यक है कि ईश्वरप्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता ही मन को पवित्र करती है। इस व्याकुलता के बिना बाह्य साधनाएँ इन्द्रिय-निग्रह में अधिक सहायक नहीं होतीं।

सभी साधु-सन्तों का यह अनुभव है कि ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता और प्रेम के बिना मनुष्य के बुरे संस्कार दूर नहीं हो सकते। ईश्वर के लिए यह व्याकुलता और प्रेम केवल आन्तरिक प्रार्थना से ही उत्पन्न होता है। प्रार्थना का अर्थ कुछ मंत्रों और स्तुतियों का यांत्रिक उच्चारण मात्र नहीं है। दीर्घकाल तक कठोर साधना और ईश्वर के लिए व्याकुलता के द्वारा ही काम पर विजय प्राप्त किया जा सकता है।

प्रयत्न सफल होता है

सन्तों का कहना है कि हमें सभी परिस्थितियों में ईश्वरीय सहायता के लिए प्रार्थना करनी चाहिए और पूरी निष्ठा तथा ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। यदि हम दिन में एक-दो घण्टे भजन-स्तुति गायें और बाकी समय यथेच्छाचार में बितायें, तो इससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। स्वास्थ्य के नियमों की उपेक्षा करके क्या कोई नीरोग रहने की आशा कर सकता है? इसी प्रकार यदि हम अपने अन्तर में एक आध्यात्मिक प्रवाह बनाये रखना चाहते हैं, तो हमें पूरे दिन सतर्क रहना होगा। गीता कहती है कि भगवान के भक्त को कर्मकुशल होना चाहिए। किसी कार्य को सफल बनाने में पाँच तत्त्वों का योगदान होता है – अनुकूल परिवेश, परिश्रमी कर्ता, इन्द्रिय-निग्रह, बारम्बार प्रयत्न और भगवत्कृपा। निष्ठापूर्वक भगवान को चाहनेवाले तथा अध्यवसायी लोग ही लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। एक कहावत है – 'ईश्वर उन्हीं की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं।' ईश्वर ने हर व्यक्ति को बुद्धि तथा कार्यक्षमता प्रदान की

है। यदि हम अकर्मण्यता के कारण अपनी क्षमतानुसार चेष्टा न करें, तो इससे भगवान खुश नहीं होंगे। सन्तों का कहना है कि हमें ईश्वर से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वे हमें जीवन के भार को वहन करने की शक्ति प्रदान करें और शेष उनकी इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। और यह नियम पूर्णत: ईश्वर-निर्भर रहनेवाले सिद्ध महात्माओं पर ही लागू नहीं होता। अतीत काल में भी भारत के ऋषि-मुनियों ने मनोविज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, ज्योतिष व राजनीतिक-चिन्तन जैसे क्षेत्रों में उच्च ज्ञान अर्जित किया था। ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या वे लोग केवल भाग्य पर ही निर्भर रहे, या फिर परिश्रम से कार्य करते रहे? हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि अत्यन्त उद्यमी और खोजी वृत्ति के थे। कभी कभी हम सस्ते वैराग्य तथा भक्ति के नाम पर स्वयं को धोखा देते हैं। हमें ध्यान रखना होगा कि विवेक, विचार तथा आत्म-विश्लेषण से युक्त प्रार्थना ही हमें सफलता के पथ पर अग्रसर करा सकती है।

एक बालिका के छोटे भाई ने चिड़ियों को पकड़ने हेतु एक फन्दा बनाया। चिड़ियों को फँसाकर उन्हें कष्ट देना ही उसका खेल था। पर बालिका को उसके इस कार्य से पीड़ा होती थी। उसने उसका यह क्रूर खेल छुड़ाने की चेष्टा की। कुछ ही दिनों में वह अपने भाई के मन को बदलने में सफल हुई। इस पर आश्चर्यचकित होकर उसने अपनी माता को बताया, 'माँ, पहले मैंने प्रार्थना की कि मेरा भाई एक अच्छा बालक बन जाय। फिर मैंने प्रार्थना की कि उसके फन्दे में कोई चिड़िया ही न फँसे। इसके बाद मैंने चिड़ियों को पकड़ने हेतु बनाए उसके सारे फन्दों को ही नष्ट कर दिया।'

हमें अपने उद्यम से अपनी प्रार्थना को सबल कर लेना चाहिए। चलो, हम अपनी पुरानी आदतों को छोड़कर जीवन के नए आदर्शों का अनुसरण करें।

सांत्वना के शब्द

एक भक्त के संकटों से द्रवित होकर, एक महात्मा ने उसे दिलासा देने के लिए निम्नलिखित बातें कही थीं। इसमें प्रार्थना का सार-तत्त्व निहित है –

'भगवान सर्वशक्तिमान और दयालु हैं। उनके चरणों में शरणागत भक्तों को जरा भी डरने की जरूरत नहीं। अपनी वर्तमान कठिनाइयों को भगवान की कृपा का प्रसाद समझो। आज की परेशानियाँ जीवन भर नहीं रहेंगी। वे पुल के नीचे से बहनेवाले जल के समान चली जाएँगी। अधीर मत बनो। चिन्तित मत होओ, धैर्य रखो। जीवन में आनेवाली सभी कठिनाइयों का एक तात्पर्य होता है। उनका कोई-न-कोई कारण रहता है। जो बीत गया, उसका खेद मत करो। ईश्वर सब कुछ देखते हैं। वे तुम्हारी प्रार्थना का प्रत्येक शब्द सुनते हैं। प्रार्थना में आकांक्षित वस्तु न मिली, तो ईश्वर पर दोष मत लगाओ। कोई भी प्रार्थना निष्फल नहीं जाती। बिजली के तार में से होकर बहनेवाली विद्युत्-धारा अदृश्य रहती है, पर चमकता हुआ बल्ब उसकी उपस्थिति की पुष्टि करता है। इसी प्रकार भगवान की कृपा श्रद्धा-भक्ति के तार में से होकर बहती रहती है। ईश्वर के नाम का जप करके कोई भी इसका अनुभव कर सकता है। अत: भगवन्नाम का जप करो। सोना आग में तपकर शुद्ध हो जाता है। कठिनाइयों से घिर जाने पर ही हमें बोध होता है कि यह संसार दु:खों से परिपूर्ण है। ईश्वर के चरणों के सिवा हमारे लिए अन्य कोई भी सच्चा आश्रय नहीं है। ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण के अलावा हमारे लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। जब भी संकट आए, तो ईश्वर से प्रार्थना करो। ईश्वर निश्चित रूप से तुम्हें उद्धार का मार्ग दिखायेंगे। जैसे एक मुख्य विद्युत्-उत्पादन केन्द्र में पैदा हुई बिजली की ही विभिन्न स्थानों पर आपूर्ति की जाती है, वैसे ही ईश्वर के चरणों का स्पर्श कर चुके सन्त-महापुरुष-गण सर्वत्र आध्यात्मिक जागृति फैलाते रहते हैं।

तुम्हारे घर में जल-आपूर्ति का नल तो होगा। उसी के समान ईश्वर की कृपा महात्माओं के माध्यम से लोगों के पास पहुँचकर उन्हें कृतार्थ करती है। जैसे सभी घरों में एक साथ ही जल-आपूर्ति की जा सकती है, वैसे ही ईश्वर सभी लोगों की प्रार्थनाओं को एक साथ ही सुनकर उसका उत्तर दे सकते हैं। परन्तु घर के निवासियों द्वारा टोंटी खोलने पर ही जल मिलता है और उसके नीचे बर्तन रखने पर ही वह भरता है। आज्ञाकारी और यथार्थ विनय के द्वारा ही हम भगवत्कृपा की पात्रता अर्जित कर सकते हैं। नित्य-निरन्तर उनका नाम-जप करते रहो। मंत्र का प्रत्येक जप तुम्हें भगवान के एक कदम निकट ले जाता है। सर्वदा ईश्वर का स्मरण करते रहने से निश्चित रूप से उनकी कृपा होगी। हमारे चारों ओर वायु विद्यमान है, पर हम उसे देख नहीं सकते। परन्तु पत्ता हिलते ही हमें वायु की उपस्थिति का बोध होता है। सन्त-महात्माओं के जीवन तथा उपदेश हमें भगवान की उपस्थिति का बोध कराने में मदद करते हैं। भगवान एक चींटी का पदचाप भी सुनते हैं, तो फिर वे तुम्हारी प्रार्थना का उत्तर क्यो नही देंगे। यह ब्रह्माण्ड एक अदृश्य तथा सर्वव्यापी दिव्य शक्ति द्वारा पूर्णरूपेण नियंत्रित है। सर्वदा उनसे प्रार्थना करके शान्ति और परमानन्द प्राप्त करो। तुम्हारी सारी परेशानियाँ दूर हो जाएँगी। तुम्हें सुख और प्रसन्नता का बोध होगा। जल में घुली हुई चीनी दिखाई नहीं पड़ती। परन्तु जल का मिठास उसमें चीनी की उपस्थिति का संकेत करता है। भगवान और उनका नाम परस्पर अभिन्न है। उनके नाम का जप करते रहने पर हमें निश्चय ही उनकी उपस्थिति का बोध होगा। जब हम किसी बच्चे को तैरना सिखाते हैं, तो उसकी कमर में एक रस्सी बाँध देते हैं, ताकि वह डूब न जाय। इसी प्रकार ईश्वर हम

लोगों को जीवन-समुद्र में डालने के पूर्व हमारे चारों ओर अपनी कृपा की डोर बाँध देते हैं। बच्चे के डूबने का खतरा उपस्थित होने पर तट पर बैठे लोग रस्सी खींचकर उसे पानी से बाहर निकाल देते हैं। भक्त के संकटग्रस्त होने पर भगवान भी उसे डूबने नहीं देते। बस चाहे जितनी भी भीड़युक्त क्यों न हो, उसमें चालक के लिए जगह तो रहती ही है। कोई भी चालक की जगह नहीं बैठता। इसी प्रकार, तुम चाहे जितने भी व्यस्त क्यों न होओ, प्रार्थना और जप के लिए कुछ समय अवश्य ही निकालो। भगवान का गुणगान करो। संसार में निन्दक लोग तो हमेशा ही रहते हैं। उनकी बातों पर ज्यादा ध्यान मत दो। केवल भगवान का चिन्तन करो। इससे तुम्हारा मंगल होगा।'

प्रार्थना कैसे करें?

यदि हम पूरी सच्चाई के साथ ईश्वर के सम्मुख अपना हृदय-मन खोल दें, तो हम निश्चय ही अपने प्रति उनके प्रेम का अनुभव करेंगे। भक्त इस प्रकार भगवान से प्रार्थना करता है – 'हे जगदम्बा, मैं कुछ भी नहीं जानता, मैं अज्ञानी हूँ। इस मिथ्या भवसागर में खेलते हुए मैंने अपना जीवन बर्बाद कर डाला। अब मुझे अपनी गलती का बोध हुआ है। तुम सर्वव्यापी हो। एकमात्र तुम्हीं मेरी गलतियों को क्षमा करके मुझे सत्पथ पर चला सकती हो। सभी प्रकार की कठिनाइयों तथा कष्टों का सामना करने हेतु मुझे शक्ति प्रदान करो। मैंने सचमुच ही अनेक गलतियाँ की हैं। परन्तु, माँ, मुझे क्षमा करो और उच्चतर बोध प्रदान करो। मैं तुम्हारी सन्तान हूँ। मुझे तुम्हारी गोद की सुरक्षा चाहिए। सचमुच मैं तुम्हीं को चाहता हूँ। इस संसार में रहने के लिए धन तो मुझे अवश्य चाहिए, परन्तु माँ, इस जन्म-मृत्यु के चक्र को तोड़ने हेतु मुझे तुम्हारे चरण-कमल रूपी चिर सम्पदा की परम आवश्यकता है। माँ, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। मुझे सदाचार के पथ पर चलाओ। तुम मुझे अपनी लीला तथा महिमा को समझने की क्षमता प्रदान करो। मुझे अपना दिव्य चिन्मय रूप दिखाओ और पवित्रता के मार्ग पर ले चलो। मैं जब भी प्रार्थना करूँ, तुम पास आकर मेरी रक्षा करो। प्यारी माँ, तुम अपने स्नेह और प्रेम से मुझे शुद्ध कर दो। माँ, मेरे जीवन में एक आध्यात्मिक पुनर्जागरण ला दो। मैं सदा सदा के लिए तुम्हारा ही हूँ। मुझे गोद में उठा लो। मेरा हाथ पकड़कर मुझे बचा लो। मुझ पर दया करो।'

इस प्रकार की प्रार्थना से धीरे धीरे ईश्वर के लिए व्याकुलता बढ़ती है और अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। आँसुओं के समुद्र में ही भगवत्कृपा का जहाज चलता है। जैसे गुलाब का पुष्प अपने सौन्दर्य के साथ ही सुगन्ध भी बिखेरता है, वैसे ही भगवत्कृपा से आन्तरिक सुख तथा बाह्य समृद्धि आती है।

भगवान भक्त के हृदय में निवास करते हैं

भक्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और ईर्ष्या जैसी मानसिक अशुद्धियों से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करता है। एक साधक कभी इस क्षणिक संसार की किसी चीज की आकांक्षा नहीं करता। आन्तरिक प्रकाश एवं शान्ति ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। उसकी आकांक्षा रहती है कि ईश्वर उसके हृदय में निवास करके उसे चलाते रहें। गोस्वामी तुलसीदास की निम्नलिखित प्रार्थना का यही सन्देश है –

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादि-दोष-रहितं कुरु मानसं च ॥

– 'हे सबके हृदयवासी प्रभो, मैं आपसे सच सच कहता हूँ, मेरी अन्य कोई इच्छा नहीं है। मुझे अपने चरणों में निर्भरा भक्ति प्रदान कीजिए और मेरे हृदय को काम आदि दोषों से मुक्त करके अपना स्थायी निवास बना लीजिए।'

भगवत्-सान्निध्य का अभ्यास

ब्रदर लारेंस का चरित्र ज्वलन्त रूप से दर्शाता है कि भगवत्-सान्निध्य के अभ्यास से ईश्वर की प्राप्ति होती है।

लारेंस का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। वे सामान्यजनों के बीच पले और बड़े हुए। वे अपने कार्य में अधिक दक्ष न थे, पर उनमें एक असाधारण गुण था। उन्हें ईश्वर में दृढ़ विश्वास था। ईश्वर में अपने इस विश्वास तथा उनके लिए व्याकुलता के द्वारा वे एक महान् सन्त बन गये। अठारह वर्ष की आयु में ही उन्होंने भगवान की महिमा का बोध कर लिया था। वह घटना बड़ी साधारण-सी थी। जाड़े के दिनों में उन्होंने देखा कि पतझड़ के बाद सारे वृक्ष ठूँठ-जैसे खाली हो गये हैं। उन्होंने सोचा कि कुछ ही दिनों में ईश्वर की कृपा से ये नंगे वृक्ष हरी-भरी पत्तियों से भर जायेंगे और यह बोध होते ही उनका मन ईश्वर के चिन्तन में डूब गया। उन्होंने धर्म-ग्रन्थ पढ़कर अपना आध्यात्मिक जीवन आरम्भ किया। परन्तु दार्शनिक वाद-विवाद से परिपूर्ण धर्म-ग्रन्थों को पढ़कर उनका द्वन्द बढ़ गया। कोरी विद्वत्ता उन्हें विशेष उपयोगी नहीं लगी। उन्होंने पुस्तकों को तिलांजलि दे दी। उन्होंने बताया था, 'ईश्वर के लिए सब कुछ छोड़कर और केवल उन्हीं के प्रेम के लिए व्याकुल होकर मैं इस प्रकार रहने लगा मानो पूरे जगत् में केवल ईश्वर और मेरा ही अस्तित्व रहा हो।' यह बात सामान्य-सी लग सकती है। परन्तु लारेंस चेतावनी देते हैं, 'सच पूछिए, तो १० वर्षों तक मुझे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कई बार मैं ठोकर खाकर गिर पड़ा। पर मैंने अपना प्रयास जारी रखा। कुछ काल तक तो ऐसा लगा मानो सभी प्राणी, युक्ति एवं

स्वयं ईश्वर भी मेरे प्रतिकूल हैं और मेरे पास केवल विश्वास का ही सम्बल रह गया था।' परन्तु लारेंस ने निश्चय कर लिया था, 'चाहे जो भी हो, आनेवाले दिनों में चाहे जितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आयें, मैं केवल भगवत्प्रेम के लिए ही सब कुछ करता रहूँगा।' उनका जीवन गीता के इस सन्देश का ज्वलन्त निदर्शन था, 'तुम जो भी करो, सब कुछ मुझ ईश्वर के लिए करो।' ब्रदर लारेंस कहते हैं, 'हमें सब कुछ केवल भगवत्-प्रेम के लिए ही करना चाहिए।' ईश्वर से उपहार पाने के लिए नहीं, अपितु केवल उन्हीं को पाने के लिए वे उनके प्रीत्यर्थ एक तिनके को उठाकर भी स्वयं को धन्य मानते थे। लारेंस भगवान की महिमा का स्मरण करते हुए और व्याकुलतापूर्वक प्रार्थना करते हुए ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही अपना प्रतिदिन का कार्य सम्पन्न किया करते थे। भगवत्-सान्निध्य के आनन्द का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा था – 'जबकि मैं इस बात को लेकर चिन्तित था कि मेरा जीवन शायद पीड़ा तथा कठिनाइयों में ही बीतेगा, सहसा एक दिन मेरी अन्तरात्मा को अवर्णनीय आनन्द और शान्ति का अनुभव होने लगा। मैंने पाया कि मेरा रूपान्तरण हो गया है। मेरी पीड़ित अन्तरात्मा में एक महान् आन्तरिक शान्ति छा गई। मेरा मन भी उस शान्ति से अभिभूत हो उठा। तब से मैं सरलता तथा विश्वास, विनम्रता तथा प्रेम के साथ ईश्वर में विहार करने लगा।'

लारेंस का पूर्व नाम निकोलस हरमन था। वे पहले सेना में थे, परन्तु अपने कार्य में निपुण न होने के कारण उन्हें अपने उच्च-अधिकारियों की नाराजगी झेलनी पड़ी। अयोग्यता के कारण उन्होंने सेना की नौकरी छोड़कर पेरिस के एक मठ में प्रवेश ले लिया। वहाँ वे इस आशा से गए थे कि ईश्वर उन्हें सुधार देंगे। वे शारीरिक रूप से अपंग थे और लँगड़े होने के कारण वे रसोईघर में कार्य करते थे। परन्तु वह कार्य उन्हें पसन्द नहीं था। प्रारम्भ में रसोईघर की अफरा-तफरी से वे झल्ला उठते। कभी कभी उन्हें अपने शारीरिक बल तथा क्षमता से भी अधिक परिश्रम करना पड़ता था। पर वे ईश्वर-प्रीत्यर्थ निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते रहे, एक-दो वर्ष नहीं, अपितु सुदीर्घ ६० वर्षों तक !

कोई भी कार्य शुरू करने से पूर्व वे उत्कण्ठापूर्वक प्रार्थना करते, 'हे प्रभो, आप मेरे इतने घनिष्ठ हैं ! आपकी इच्छानुसार ही मैं अपने सारे कर्तव्य सम्पन्न कर रहा हूँ। आपकी मदद के बिना मैं असहाय हूँ। हे पिता ! मेरी यही प्रार्थना है कि मैं कभी आपके सान्निध्य से वंचित न होऊँ।' वे ईश्वर की सहायता प्राप्त करने का रहस्य भी प्रकट करते हुए कहते हैं, 'हमें एकान्त में, सहज भाव से ईश्वर को पुकारना चाहिए। हमें निश्छल, स्वाभाविक तथा सहज रीति से उनसे प्रार्थना करनी चाहिए। कोई सत्कार्य करने का अवसर मिले, तो हमें ईश्वर से विनती करनी चाहिए कि वह सफल हो।' प्रार्थना के माध्यम से लारेंस ने जिस उच्च मानसिक अवस्था की उपलब्धि की थी, उनके अपने शब्द ही उसका इंगित देते हैं, 'मेरी प्रार्थना और कार्य के समय भिन्न भिन्न नहीं थे। रसोईघर में ही जब अनेक लोग एक साथ ही अनेक चीजें माँग रहे होते थे, तो उस कोलाहल के बीच भी मैं मन की पूर्ण प्रशान्ति के साथ ध्यान व प्रार्थना करता हुआ भगवत्-सानिध्य का अनुभव करता रहता था।'

लारेंस एक भक्त होने के साथ-ही-साथ एक कर्मयोगी भी थे। जब वे कहते, 'निश्चय करो, पूरी आन्तरिकता से आत्म-समर्पण करो' – तो इसका तात्पर्य यह नहीं था कि व्यक्ति सब कुछ छोड़कर निर्जन में चला जाय। व्यक्ति को छोटे-मोटे कार्य करने में भी हिचकिचाना नहीं चाहिए। वे कहते हैं, 'ईश्वर कार्य की मात्रा और प्रकार को नहीं, अपितु उसे सम्पन्न करने में नियोजित हमारे भक्ति-प्रेम को देखते हैं। साधना में हमारी प्रगति स्थान या कार्य के परिवर्तन पर निर्भर नहीं करती। सबसे अच्छा तो यही है कि हम जहाँ हैं, वहीं रहकर ईश्वर-प्रीत्यर्थ अपने सारे कर्तव्य सम्पन्न करते रहें।'

एक विद्वान् भी ईश्वर के बारे में उतने अधिकारपूर्वक नहीं बोल सकता, जितने अधिकारपूर्वक सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करनेवाला व्यक्ति बोल सकता है। ईश्वर की प्राप्ति कर चुके महात्माओं की वाणी लोगों के हृदय को छू लेती है। लारेंस कहते हैं, 'मनुष्य भले ही वर्षों तक व्यर्थ के तर्क-वितर्क करता रहे, परन्तु ईश्वर अपने सरल तथा विनम्र भक्तों के समक्ष ही सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वों और अपनी महिमा को प्रकट करते हैं।' वे विनम्रतापूर्वक, पर दृढ़भाव से कहते हैं, 'अब तो विश्वास करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मैं प्रतिक्षण ईश्वर को देखता हूँ। अब मैं विश्वास नहीं करता, क्योंकि अब मैं ईश्वर का दर्शन तथा अनुभव कर सकता हूँ। द्वार को खटखटाइए, खटखटाते रहिए और मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि यदि आप निरुत्साहित नहीं हुए, तो यथासमय वे द्वारा खोल देंगे और सहसा ही वह सब कुछ प्रदान करेंगे, जो उन्होंने इतने दीर्घकाल से रोक रखा था।' इस प्रकार वे साधकों को प्रोत्साहन प्रदान करते हैं।

भला कौन ऐसी निश्छल पुकार की उपेक्षा कर सकता है?

❖ (क्रमशः) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (२)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रकाशित किया जायेगा। – सं.)

अध्याय ३

हिन्दू शास्त्र

हिन्दू ऋषियों के उपदेश हिन्दू धर्म के रूप में मूर्त हुए हैं और जिन पावन ग्रन्थों में उन्हें लिपिबद्ध किया गया है, उन्हें शास्त्र कहते हैं।

ईश्वर कौन हैं? वे कहाँ रहते हैं? वे देखने में कैसे हैं? उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है? उन्हें जानने की क्या जरूरत है? उन्हें प्राप्त करने के क्या उपाय हैं? – इन सारे प्रश्नों के उत्तर शास्त्रों में प्राप्त होते हैं। अपने हृदय के ईश्वरत्व को कैसे प्रकट किया जाय? उसमें क्या बाधाएँ हैं? और उन बाधाओं को पार करने के क्या उपाय हैं? हमारा आचरण कैसा होना चाहिए? कौन-कौन-से कर्म उचित हैं और कौन-कौन-से अनुचित? – ये सभी शास्त्रीय शिक्षा के विषय हैं।

हिन्दू लोग हजारों वर्षों से धर्म-मार्ग पर चलते आये हैं। इस सुदीर्घ काल के दौरान असंख्य धर्म-पिपासु साधक श्री भगवान का दर्शन पाकर धन्य हुए और उनमें से अनेक लोग ईश्वर-प्राप्ति के नये-नये मार्गों का पता दे गये हैं। इस प्रकार पुण्यभूमि भारत में अनेक साधन-पथों का आविष्कार हुआ है। इसी कारण अन्य धर्मों के समान हिन्दू-शास्त्र केवल एक नहीं, अपितु संख्या में अनेक तथा विविधतापूर्ण हैं। विभिन्न मानसिक स्तरों के लोगों को भिन्न-भिन्न पद्धति से धर्म-शिक्षा दी जानी चाहिए, इस कारण भी हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

वेद

इन अनेक तथा विविध हिन्दू-शास्त्रों का मूल वेद है। अनुभूति पर आधारित होने के कारण इन्हें श्रुति भी कहते हैं और इसीलिए इनकी प्रामाणिकता के विषय में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बल्कि उल्टे श्रुति के ऊपर ही अन्य सभी हिन्दू शास्त्रों की प्रामाणिकता निर्भर करती है।

संसार के समस्त धर्मग्रन्थों में वेद प्राचीनतम हैं। हिन्दुओं के कुछ विशेष धर्मग्रन्थों को वेद कहने का एक कारण है। संस्कृत भाषा में 'विद्' धातु का अर्थ है – 'जानना'। इसी धातु से निष्पन्न होने के कारण 'वेद' शब्द का मूल अर्थ है – 'ज्ञान'। अतः ईश्वर, जीव तथा जगत् के विषय में पारमार्थिक ज्ञान को ही वेद कहते हैं। जैसे सृष्टि अनादि और अनन्त है, वैसे ही ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान भी अनादि और अनन्त है। ईश्वर के विषय में यह शाश्वत तथा असीम ज्ञानराशि ही वेद शब्द का मुख्य अर्थ है। इस असीम ज्ञानराशि का कुछ अंश हिन्दू ऋषियों को प्राप्त हुआ था और वे ही लिपिबद्ध होकर 'वेद' के रूप में प्रचलित हैं। जिन लोगों ने इस ज्ञान का आविष्कार किया, उन्हें वैदिक ऋषि कहते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वेदों में उन आविष्कर्ता ऋषियों की अपेक्षा उनके तत्त्वज्ञान को ही महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः अनेक ऋषियों ने अपने नाम तक प्रकट करने की कोई जरूरत नहीं समझी।

वेद चार हैं – ऋक्, साम, यजुः और अथर्व। इनमें से प्रत्येक के दो भाग हैं – संहिता तथा ब्राह्मण। संहिता भाग में मंत्र या स्तोत्र हैं और ब्राह्मण भाग में उनका तात्पर्य तथा उनके उपयोग-सम्बन्धी निर्देश हैं।

अति प्राचीन काल में हिन्दू लोग आज की भाँति मूर्तिपूजा नहीं करते थे। मंत्र का उच्चारण करते हुए पवित्र अग्नि में आहुति देना ही उनका पूजा-विधान था। इस प्रकार के वैदिक कर्म को यज्ञ कहा जाता था। वेदों के ब्राह्मण भाग में विविध प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। यज्ञ करते समय वेद के संहिता-भाग के मंत्रों की आवृत्ति की जाती थी और ब्राह्मण-भाग से यह जाना जा सकता था कि किस यज्ञ में, किन मंत्रों की, किस विधि से आवृत्ति करने की आवश्यकता होगी।

उपनिषद्

वेदों के ही कुछ अंशों का नाम उपनिषद् है। वेदों के अन्त में आने अथवा वेद का सारांश होने के कारण इनका एक अन्य नाम 'वेदान्त' भी है।

वेदों का अधिकांश भाग यज्ञों से सम्बन्धित है। इहलोक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए वेदों में यज्ञ का विधान किया गया है, परन्तु यज्ञ नामक वैदिक कर्म का वास्तविक उद्देश्य है – उसके द्वारा क्रमशः चित्त को शुद्ध करके ईश्वर-प्राप्ति के योग्य बनाना। वेदों के जिस अंश में इन याग-यज्ञों की बातें हैं, उन्हें कर्मकाण्ड कहते हैं। परन्तु इसके उपनिषद् -अंशों का मूल आलोच्य विषय है – पारमार्थिक ज्ञान। इसीलिए उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड की संज्ञा दी गई है।

ईश्वर कहाँ तथा किस रूप में हैं? मनुष्य तथा जगत् के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? उन्हें जानने की क्या आवश्यकता

और क्या उपाय हैं? आदि बातें उपनिषदों से ज्ञात होती हैं।

उपनिषद् अनेक हैं। हर वेद में कई उपनिषद् हैं। उनमें ये ११ प्रमुख हैं – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर।

स्मृति

एक हिन्दू को कैसे जीवन-यापन करना चाहिए, इस विषय में निर्देश देते हुए मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि ग्रन्थों की रचना कर गये हैं, विशेष रूप से इसी प्रकार के ग्रन्थ को 'स्मृति' कहते हैं; वैसे सामान्य रूप से वेदों के अतिरिक्त बाकी सभी शास्त्र-ग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा रचित इन स्मृतियों से यह पता चलता है कि हिन्दू को अपना जीवन कैसे बिताना चाहिए। इनमें वर्ण तथा आश्रम के अनुसार मनुष्य के विभिन्न कर्तव्यों का निर्देश है। इनमें यह भी लिखा है कि हिन्दू को अपने पारिवारिक जीवन में क्या-क्या अनुष्ठान करना चाहिए। इसके अलावा स्मृतिकार-गण हिन्दू परिवार व समाज के लिए कुछ व्यवस्थाएँ दे गये हैं, जो अंग्रेजों के शासन के दौरान भी जीवित थीं।

संक्षेप में कहें, तो वर्ण तथा आश्रम के अनुसार हिन्दुओं को कुछ कार्यों में प्रवृत्त करना और कुछ कार्यों से विरत करना ही स्मृति का उद्देश्य है। इसीलिए स्मृतियों में विधि-निषेधों का विधान है। व्यक्ति के मन को क्रमश: पवित्र करके उसे एक-एक कदम पूर्णता की ओर अग्रसर कराना ही स्मृतियों का एकमात्र लक्ष्य है। कहना न होगा कि स्मृतियाँ पूर्ण रूप से श्रुतियों (वेदों) पर आधारित हैं। तथापि यह ध्यान रखना होगा कि सामाजिक परिवेश में परिवर्तन के अनुसार विधि-निषेध की व्यवस्थाएँ भी बदलती रहती हैं। देखने में आता है कि हिन्दू समाज का भिन्न-भिन्न युग तथा स्थान रूपी आवेष्टन बदलने के साथ-ही-साथ नये नये स्मृतियों की रचना हुई है। मनु के काफी काल बाद रघुनन्दन की स्मृति रची गयी और वह भी केवल बंगाल के हिन्दू समाज के लिए ही थी। वर्तमान हिन्दू समाज अन्तिम स्मृतिकार से काफी दूर चला आया है, इसलिए लगता है कि एक नयी स्मृति की रचना का समय आ पहुँचा है।

दर्शन

वेद-वाक्यों को आधार बनाकर परमार्थ-तत्त्व के विषय में छह पृथक मतवाद बने। इन छह मतवादों के आधार पर छह दर्शन भी रचे गए। इन्हें सामूहिक रूप से षड्दर्शन कहते हैं। जैमिनी, व्यास, कपिल, पतंजलि, गौतम और कणाद इनके रचयिता हैं और इन्होंने क्रम से – पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों की रचना की। इन दर्शनों की एक विशेष रचना-शैली है। जैसे संस्कृत व्याकरण सूत्रों के रूप में मिलता है, वैसे ही सूत्रों के रूप में ये दर्शन भी रचे गये हैं। इन सूत्रों को समझने के लिए व्याख्या की विशेष आवश्यकता होती है। इसीलिए कालक्रम से प्रत्येक दर्शन के ऊपर अनेक भाष्य-टीकाओं आदि की रचना हुई।

इन दर्शनों में पूर्व-मीमांसा में वेदों के कर्मकाण्ड और उत्तर-मीमांसा में ज्ञानकाण्ड पर चर्चा हुई है। उत्तर-मीमांसा का आधार उपनिषद् हैं। इसीलिए महर्षि व्यास द्वारा रचित इस दर्शन को वेदान्त या ब्रह्मसूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्र हिन्दू धर्म का मानो एक स्तम्भ है। परवर्ती काल में शंकर, रामानुज आदि आचार्यों ने इस पर अपने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से मूल्यवान भाष्यों की रचना की है।

पुराण

दर्शन निस्सन्देह ही कठिन हैं। वे केवल विद्वानों के द्वारा ही पठनीय हैं। जन-साधारण के लिए हिन्दू ऋषियों ने 'पुराण' नामक एक अन्य श्रेणी के शास्त्रों का प्रणयन किया था। पुराणों का उद्देश्य है – अति सरल व मनोहर शैली में धर्म की शिक्षा प्रदान करना। पुराण विभिन्न प्रकार की कथाओं तथा रूपकों के द्वारा धर्म के दुरूह तत्त्वों को हमारे हृदय में अंकित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें भारत के प्राचीन इतिहास की थोड़ी-थोड़ी झलक भी मिल जाती है। पुराणों की संख्या अठारह हैं। इनमें प्रमुख हैं – विष्णु-पुराण, पद्म-पुराण, वायु-पुराण, अग्नि-पुराण, स्कन्द-पुराण, मार्कण्डेय-पुराण तथा श्रीमद्भागवत-पुराण। श्री चण्डी या दुर्गा-सप्तशती की कथा हम सभी जानते हैं। यह मार्कण्डेय-पुराण का एक अंश है। इसका पाठ हिन्दुओं की प्रत्येक पूजा-पर्व का एक आनुषंगिक अनुष्ठान होता है।

रामायण तथा महाभारत

पुराणों की ही भाँति सरस तथा लोकप्रिय हिन्दुओं के दो अन्य अति उपयोगी शास्त्र हैं – रामायण तथा महाभारत। क्रमश: वाल्मीकि एवं व्यास इन दो महाकाव्यों के प्रणेता हैं। उन्हें इतिहास की श्रेणी में रखा जाता है। रामायण तथा महाभारत अपने मर्मस्पर्शी उपाख्यानों द्वारा हमारे मन पर हिन्दू धर्म की मूल शिक्षाओं के संस्कार डालते हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में इनके अनुवाद उपलब्ध हैं। हिन्दू नर-नारी की धर्मशिक्षा अधिकांशत: रामायण तथा महाभारत के इन अनुवादों की सहायता से ही सम्पन्न होती है।

गीता

महाभारत का ही एक अंश गीता के नाम से विख्यात है। महाभारत में कुरुक्षेत्र के भीषण युद्ध की कथा है। यह कुरु-पाण्डव-युद्ध के नाम से भी प्रसिद्ध है। स्वयं भगवान

श्रीकृष्ण ही तृतीय पाण्डव – वीर-शिरोमणि अर्जुन के सारथी बने थे। युद्ध शुरू होने के पूर्व उन्होंने किंकर्तव्य-विमूढ़ अर्जुन को हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों का उपदेश दिया। ये उपदेश ही महाभारत का यह अंश ही श्रीमद्-भगवद्-गीता के नाम से प्रचलित है। जैसे उपनिषद् वेदों के सार हैं, वैसे ही गीता को भी उपनिषदों का सार कहा जा सकता है। हिन्दू शास्त्रों में गीता ही सर्वाधिक लोकप्रिय है।

प्रस्थान-त्रय

उपनिषद्, वेदान्त-दर्शन तथा गीता – इन तीनों को एक साथ प्रस्थान-त्रय कहते हैं। प्रस्थान-त्रय हिन्दुओं का प्रमुख शास्त्र माना जाता है। हिन्दू समाज पर इसका असीम प्रभाव है। इसी की नींव पर हिन्दू धर्म के प्रमुख सम्प्रदायों के मतवाद गठित हुए। विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों ने इस प्रस्थान-त्रय की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करके द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतों की स्थापना तथा प्रचार किया है।

तंत्र

हिन्दुओं का एक अन्य शास्त्र है – तंत्र। इसमें ईश्वर का आद्याशक्ति के रूप में चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है। विभिन्न मूर्तियों के रूप में आद्याशक्ति की अर्चना करने के लिए तंत्रों में अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का विधान है।[१] तंत्रों की रचना प्राय: शिव-पार्वती के कथोपकथन के रूप में हुई है। कहीं कहीं प्रश्नकर्त्री पार्वती तथा उत्तरदाता शिव हैं और कहीं प्रश्नकर्ता शिव हैं और उत्तरदात्री पार्वती हैं। प्रथम प्रकार के तंत्र आगम और दूसरे प्रकार के निगम कहलाते हैं। तंत्र अनेक हैं, पर उनमें से चौंसठ प्रधान माने जाते हैं। कुछ अति प्रसिद्ध तंत्रों के नाम इस प्रकार हैं – महानिर्वाण, कुलार्णव, कुलसार, प्रपंचसार, तंत्रराज, रुद्रयामल, ब्रह्मयामल, विष्णुयामल तथा तोरलतंत्र।

पंचरात्र संहिता तथा शैव आगम

वैष्णवों की पंचरात्र-संहिता तथा शैवों के शैवागम भी तंत्र जाति के ही शास्त्र हैं।[२] तंत्रों की भाँति ही इनके भी विचार व विधान सरल हैं। इनका दावा है कि कलियुग के लिए वेदों की अपेक्षा ये अधिक उपयोगी हैं। ये वेदमूलक नहीं हैं, पर इनमें स्पष्ट वेद-विरोध भी नहीं है। इन तंत्र जाति के शास्त्रों की एक अन्य विशेषता यह है कि किसी भी जाति के स्त्री या पुरुष दीक्षित होने से ही शास्त्र-पाठ के अधिकारी हो जाते हैं।

यद्यपि कुल २१५ पंचरात्र संहिताओं की बात सुनी जाती है, पर उनमें से केवल कुछ ही स्मरणीय हैं – ईश्वर, पौष्कर, परम, सात्वत, बृहत्ब्रह्म तथा ज्ञानामृतसार-संहिता।[३]

अट्ठाइस शैव आगमों की बात भी कही जाती है। फिर प्रत्येक आगम के कितने ही उपागम भी हैं, पर आजकल इनमें से केवल बीस के ही कुछ-कुछ अंश उपलब्ध हैं।

---*---

१. इसकी विवेचना बारहवें अध्याय में होगी।

२. History of Indian Literature by Winternitz Vol 1, P. 587

३. प्रथम का यामुनाचार्य एवं उसके बाद के तीन का रामानुजाचार्य ने उल्लेख किया है। अन्तिम 'नारद-पंचरात्र' नाम से मुद्रित हुआ है।

पुरखों की थाती

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ।।

– मनुष्य की आयु, कर्म, धन-सम्पदा, विद्या तथा मृत्यु – ये पाँच चीजें गर्भ में रहते समय ही निर्धारित हो जाती हैं।

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
तस्य पुण्यस्य कल्पान्ते क्षय एव न विद्यते ।।

– जो दयावान व्यक्ति समस्त प्राणियों को अभय-दान करता है, कल्प समाप्त होने तक भी उसके पुण्यों का क्षय नहीं होता।

अहो नु चित्रा मायेयं तथा विश्वमोहिनी।
असत्यैवापि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिवत् ।।

– अहो, यह माया विचित्र और सम्पूर्ण विश्व को मोहित करनेवाली है, यह मरुभूमि में जल के समान असत्य होकर भी सत्य प्रतीत होती है।

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमर्च्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ।।

– इसमें कोई संशय नहीं कि इन्द्रियों का भोग करने से दोष की प्राप्ति होती है और उन्हीं का संयमन करने से मनुष्य सिद्धिलाभ करता है।

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कार्यं व्यग्रा भवन्ति च।
महाऽऽरम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ।।

– अज्ञानी लोग छोटा-सा कार्य आरम्भ करके भी बड़े परेशान हो जाते हैं, परन्तु धीर लोग महान् कार्य आरम्भ करके भी धैर्यवान बने रहते हैं।

कृते च प्रति कर्तव्यम् एष धर्मः सनातनः ।।

– अपना उपकार करनेवाले का उपकार करना – यही सनातन धर्म है।

वहम का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मेरे एक परिचित हैं। वे जब अपने कमरे में ताला लगाकर बाहर निकलते हैं, तो ३-४ बार लौटकर ताले के पास आते हैं, उसे झटका देकर देखते हैं कि वह खुला तो नहीं है। फिर भी वे आश्वस्त हो नहीं पाते। उन्हें आशंका लगी ही रहती है कि कहीं उन्होंने ताले को खुला ही तो नहीं छोड़ दिया है। जब घर के अन्दर होते हैं, तो कई बार जाकर देख आते हैं कि उन्होंने कुण्डी ठीक से चढ़ा दी है तो। एक दूसरे सज्जन हैं, जो चिट्ठी के डिब्बे में चिट्ठी डालकर ३-४ बार झुककर देखते हैं कि उन्होंने चिट्ठी सही सही डाल दी है तो। फिर कुछ दूर आकर पुनः लौटकर डिब्बे के पास जाते हैं - यह देखने के लिए कि चिट्ठी डिब्बे के बाहर तो नहीं गिर पड़ी। एक तीसरे हैं जो कहीं बाहर जाते समय बार बार अपना पर्स खोलकर देखते हैं कि उन्होंने अपनी टिकट रख ली है तो। ये तीनों व्यक्ति वहम के शिकार हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि यदि पैर के नीचे मल आ जाय, तो बारम्बार पैर को धोकर भी उन्हें समाधान नहीं होता, उन्हें लगता है कि पैर अभी भी गन्दा है।

मेरा एक सहपाठी था। एक दिन परीक्षा देने के लिए जाते समय पता नहीं कैसे उसकी पेन की कैप निकल गयी और उसकी जेब पर पेन की निब ने स्याही का बड़ा-सा धब्बा लगा दिया। पहले तो उसे बड़ा दुःख हुआ कि उसकी कमीज खराब हो गयी, पर परचा देकर बाहर निकलने पर उसे मैंने बड़ा खुश देखा। उसने बताया कि उसका परचा बढ़िया बना है। अब उसे कैप का खुलना खराब नहीं लग रहा था, उल्टे वह कह रहा था कि कैप का खुलना उसके लिए शुभ साबित हुआ। इसके बाद से उसकी हर दिन यह कोशिश होती कि परीक्षा के लिए जाते समय किसी प्रकार उसकी पेन की कैप खुल जाय। वह पेन की कैप को ढीला ही रखता और रास्ते में न खुलने पर झटका देकर उसे खोलने की चेष्टा करता।

ये सारे उदाहरण वहम के हैं। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से एक भयानक मानसिक रोग है। हममें से हर व्यक्ति इसका न्यूनाधिक मात्रा में शिकार है। एक सज्जन हैं, जो रोज ११ बार हनुमान-चालीसा का पाठ करते हैं। यदि किसी दिन पाठ की संख्या में किसी कारणवश कमी हो गयी, तो उन्हें लगता है कि उन पर विपत्ति आ जायगी। कोई यदि प्रतिदिन के नियम के अनुसार मन्दिर नहीं जा सका, तो सारे दिन किसी अनिष्ट की आशंका बनी रहती है।

फिर लोगों को संख्या को लेकर वहम हुआ करता है। यदि किसी परीक्षार्थी को ऐसा रोल नम्बर मिला, जिसके अंकों का योग विषम हो, तो उसे फेल होने का डर सताने लगता है। एक अंगरेज १३ की संख्या से घबराता है।

वहम के ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसके जाने कितने रंग होते हैं और कितने रूप। पर कोई भी वहम ऐसा नहीं है, जो दूर न हो सके। वहम का कारण है मन की कमजोरी, इसलिए उसको दूर करने का उपाय है मन को बली और सशक्त बनाना। मन को थोड़ा-सा दृढ़ बनाकर वहम से छुटकारा पाया जा सकता है। मन की इस प्रारम्भिक दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए किसी ऐसे मित्र का साथ उपयोगी होता है, जिसका मन बली है। जैसे, जिसे ताला के बन्द न होने का वहम है, वह एक बार ताला को बन्द कर देने पर उसके पास जाए ही नहीं। मित्र उसे न जाने दे। डिब्बे में चिट्ठी डालने वाला एक बार चिट्ठी डालकर उधर देखे ही न। जिस संख्या का किसी को वहम है, वह उसी संख्या का उपयोग जान-बूझकर बार बार करे। तात्पर्य यह है कि जिसे जिस बात का वहम है, उसका ठीक उल्टा वह जान-बूझकर करे। मात्र कुछ ही महीने का ऐसा अभ्यास उसे इस भयानक मनोरोग से छुटकारा दिला देगा। यह अभ्यास उसकी मानसिक स्वस्थता को लौटा लाएगा और मन को दृढ़ता प्रदान करेगा। वहम एक साध्य रोग है। आवश्यकता है एक स्वस्थ और सबल मन वाले मित्र की, जो प्रारम्भिक दिनों में रोगी के साथ रहकर उसकी सहायता कर सके।

❑❑❑

सुनो सुनो ! वेदान्त-सिंह का गर्जन

स्वामी योगस्वरूपानन्द

अनुवादक – ब्रह्मचारी सोमेश (प्रशिक्षण केन्द्र, बेलूड़ मठ)

"हम ही समस्त जगत् के वे अनन्त सत्ता हैं तथा हमने जड़-भावात्र होकर यह क्षुद्र नर-नारी रूप धारण किया है। हम एक व्यक्ति की मधुर बात से पिघल जाते हैं तथा दूसरे व्यक्ति की कड़ी बात से भड़क उठते हैं। कितनी भयानक निर्भयता है – कितना भयानक दासत्व ! मैं जो सकल सुख-दुख के अतीत हूँ, सम्पूर्ण विश्व ही जिसका प्रतिबिम्ब स्वरूप है – सूर्य-चन्द्र-तारे जिसके प्राणों के लघु कण मात्र हैं – वह मैं इस प्रकार भयानक दास-भावापन्न हो गया हूँ। हमारे शरीर पर तुम्हारे एक चिकोटी काटने से हमें कष्ट होता है। किसी के कोई मीठी बात कहते ही हमें आनन्द होने लगता है। हमारी कैसी दुर्दशा है ! देखो, हम देह के दास, मन के दास, जगत् के दास, एक अच्छी बात के दास, एक बुरी बात के दास, वासना के दास, जीवन के दास, मृत्यु के दास – हम सब वस्तुओं के दास हैं। यह दासत्व हटाना होगा। कैसे? 'पहले इस आत्मा के बारे में सुनना होगा, तत्पश्चात् उसे लेकर मनन अर्थात् विचार करना होगा। इसके बाद उसका निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करना होगा।'[१] अद्वैत ज्ञानी की यही साधना-प्रणाली है। सत्य को पहले सुनना होगा, फिर उस पर मनन करना होगा। उसके पश्चात् उसे निरन्तर दृढ़ करते रहना होगा। सर्वदा सोचो – 'हम ब्रह्म हैं।' अन्य सब विचारों को दुर्बलताजनक मानकर दूर कर देना होगा। जिस किसी विचार से तुमको अपने नर-नारी होने का ज्ञान होता है, उसे दूर कर दो। देह जाय, मन जाय, देवता भी जाय, भूत-प्रेत आदि भी जाय, उस एक सत्ता के अतिरिक्त सब जायँ। 'जहाँ व्यक्ति अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है, अन्य कुछ जानता है, वह क्षुद्र अथवा ससीम है; जहाँ व्यक्ति अन्य को देखता नहीं, अन्य कुछ सुनता नहीं, अन्य कुछ जानता नहीं, वही भूमा अर्थात् महान् अथवा अनन्त है।'[२] वही सर्वोतम वस्तु है जहाँ विषयी और विषय एक हो जाते हैं। जब हम ही श्रोता और हम ही वक्ता हैं, जब हम ही आचार्य और हम ही शिष्य हैं, जब हम ही स्रष्टा और हम ही सृष्ट है, केवल तभी भय का नाश होता है, क्योंकि हमें भयभीत करनेवाला और कोई या कुछ नहीं है। हमारे सिवा जब और कुछ भी नहीं है, तब हमें भय कौन दिखायेगा? दिन-प्रतिदिन यही तत्त्व सुनना होगा। अन्य सब विचारों को दूर कर दो। और अन्य सब कुछ झटककर दूर फेंक दो, निरन्तर उसकी आवृत्ति करो। जब तक वह हृदय में न पहुँचे, जब तक प्रत्येक शोणित-बिन्दु तक 'मैं वही हूँ', 'मैं वही हूँ' – इस भाव से पूर्ण न हो जाय, तब तक कान के भीतर से यह तत्त्व क्रमशः भीतर प्रवेश कराना होगा। यहाँ तक कि मृत्यु के सामने होकर भी कहो – 'मैं वही हूँ'। ... मृत्यु के द्वार पर, घोरतम विपत्ति में, रणक्षेत्र में, समुद्र-तल में, उच्चतम पर्वत शिखर पर, गहनतम अरण्य में – चाहे जहाँ भी क्यों न पड़ जाओ, सर्वदा अपने से कहते रहो – 'मैं वही हूँ', 'मैं वही हूँ' – दिन-रात बोलते रहो – 'मैं वही हूँ'। यही सर्वश्रेष्ठ बल है, यही धर्म है। ...कौन तुम्हारी सहायता करेगा? तुम जगत् के सहायक हो, तुम्हारी इस बात में फिर कौन सहायता कर सकता है? तुम्हारी सहायता करने में कौन मानव, कौन देवता या कौन दैत्य सक्षम है? तुम्हारे ऊपर और किसकी शक्ति काम करेगी? तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो, तुम फिर कहाँ सहायता ढूँढ़ोगे? रेशम के कीड़े के समान तुम्हीं अपने चहुँओर जाल का निर्माण कर रहे थे। कौन तुम्हारा उद्धार करेगा? तुम यह जाल काटकर सुन्दर तितली के रूप में, मुक्त आत्मा के रूप में बाहर होकर आओ। तभी, केवल तभी तुम सत्य का दर्शन करोगे। सर्वदा अपने मन से कहते रहो – 'मैं वही हूँ'।"[३]

हाँ, आज के सौ वर्षों के बाद भी, १८९६ में न्यूयार्क में कहे गये इन शब्दों की 'प्रतिध्वनि' हमारे कानों में गूँजती है और उन्हीं तेजस्वी विचारों को याद दिलाने की सामर्थ्य रखती है। इन शब्दों ने हमें नीरसतापूर्ण निद्रा से, इस संसार के डरावने स्वप्न से झटका देकर जगा दिया है और हमें हमारे आत्मज्ञान के लक्ष्य की ओर उन्मुख कर दिया है। आधुनिक युग के लोग 'रोटी कमाने की विद्या' में प्रवीण तो हुए हैं, परन्तु वे 'वैज्ञानिक अन्धविश्वास' में डूबे हुए हैं और यह सोचकर गर्व का अनुभव करते हैं कि इस त्रिआयामी क्षितिज की सीमा के परे और कुछ हो ही नहीं सकता। वास्तविकता के शब्दों से भरी इस गर्जना से वे सहसा पूर्णतः हिल जाते हैं; अपने दोनों हाथों में पृथ्वी के दोनों अर्धवृत्तों के लिए

१. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृहदारण्यक., ५/६)

२. यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा। अथ यत्र अन्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पम्॥ (छान्दोग्य., ७/२४/१)

३. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६२, भाग ६, पृ. २९५-२९७, व्याख्यान – बहुरूप में प्रतीयमान एक सत्ता।

विश्वाधार-रूप इस विराट् व्यक्तित्व को खड़े देखकर अवाक् रह जाते हैं; इस महामानव के मुखमण्डल को देख कर दाँतों-तले अँगुली दबा लेते हैं, दावानल के भयं से काँपता हुआ पूरा विश्व शान्ति की अपेक्षा में जिसके श्रीचरणों में समर्पण कर डालता है और आपस में 'यह कौन है?' की जिज्ञासा करता है। हाँ, हमारी ओर से भी यही जिज्ञासा है कि 'यह कौन है?' क्या यह दानव है, या देवता है, या एक देवदूत या मात्र एक मानव है? यह कहाँ से आया और इसके अवतरण का सही सही प्रयोजन क्या है?

भगिनी निवेदिता के मन में कभी अपने गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द के वास्तविक सन्देश के बारे में स्पष्ट धारणा न थी। इसे समझने हेतु अपनी जिज्ञासा के साथ उन्होंने स्वामीजी को एक पत्र लिखा। स्वामीजी ने अपने उत्तर में लिखा – **"मेरा आदर्श अवश्य ही अल्प शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, और वह है मनुष्य जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अभिव्यक्त करने का उपाय बताना।"**[४] अतएव उक्त वाक्य ही स्वामी विवेकानन्द और उनके कार्य को समझने के लिए हमारा आधार होना चाहिए।

"स्वामी विवेकानन्द एक महान् व्यक्तित्व थे, बन्धनों के मूलोच्छेदक थे, वे जानते थे कि प्रहार कब और कहाँ करना है। प्राच्य देश से आया यह महामानव अपने साथ धधकती हुई ज्वाला तथा तेजपुंज की दुधारी तलवार लेकर आया था, और जिन कुछ लोगों ने उनका स्वागत किया, उन्हें उन्होंने शक्ति प्रदान की। वे आत्मा की महिमा तथा आलोक प्रकट करने आये थे।"[५] अब हम कुछ हद तक लेख के प्रारम्भ में उद्धृत स्वामीजी के तेजस्वी शब्दों के अर्थ-निर्धारण की स्थिति में हैं। मानवात्मा एककोषीय जीव के शरीर धारण करने की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर युग-युग तक चलनेवाली टेढ़ी-मेढ़ी जीवन-यात्रा करते हुए मानव-शरीर-प्राप्ति-रूप उसके अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर चैन की साँस लेता है, ढीला पड़ जाता है और यह बड़ी खतरनाक स्थिति है। वह अपनी यात्रा का उद्देश्य भूलकर स्वयं को यह मिथ्या दिलासा देने लगता है कि वह करीब करीब लक्ष्य तक पहुँच चुका है। कहते हैं कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने पूरी सृष्टि की रचना कर लेने के बाद भी, तब तक सन्तोष का अनुभव नहीं किया, जब तक कि उन्होंने मनुष्य को नहीं बना लिया। मनुष्य का निर्माण करने के बाद उन्होंने सभी जीवों को, यहाँ तक की जो उच्चतर लोकों के निवासियों को भी बुलवाया और इस नवरचित 'मानव' को नमन करने का आदेश दिया। सबने उनके आदेश का पालन किया, केवल एक को छोड़ और उसे अन्ततः शैतान बनना पड़ा। विश्व-संरचना में ऐसा उच्च स्थान रखनेवाला 'मानव' सहसा ही अपने दिव्य स्वरूप से पतित होकर घोर प्रमाद की हालत में पहुँच जाता है और अपने अस्तित्व का मूल उद्देश्य ही विस्मृत कर बैठता है। मानवात्मा को उसके विस्मृत स्वरूप को पुनः वापस दिलाकर उसके मूल स्वरूप, अस्तित्व की चरम स्थिति – आत्मा में प्रतिष्ठित करने के लिए ही इस पृथ्वी पर पैगम्बरों तथा अवतारों का आगमन हुआ करता है। इस युग में श्रीरामकृष्ण इसी उद्देश्य से स्वामी विवेकानन्द को लाए। इस युग में इन 'वेदान्त-केसरी' के द्वारा 'आत्मा की महिमा एवं दिव्यता' का वर्णन जितने सुन्दर ढंग से हुआ, वैसा अन्य किसी भी अवतार के द्वारा नहीं हुआ। वे स्वयं ही अपनी उक्तियों की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने 'अभीः अभीः' – कहकर निर्भयता का उपदेश दिया और वे स्वयं ही मानो निर्भयता के अवतार थे। एक बार कठोपनिषद[६] के एक श्लोक के केन्द्रीय भाव की व्याख्या करते हुए उनका मन इतने उच्च स्तर में पहुँच गया कि उस समय उनके शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ने उनमें साक्षात् निर्भयता को ही आविर्भूत हुए देखा। इनके उपदेशों में मुख्यतः एक ही भाव व्याप्त है – और वह है मनुष्य की दिव्यता – उसकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता पर बल देना। मनुष्य की सर्वशक्ति सम्पन्नता सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता से उनके उपदेश भरे पड़े हैं। यह त्रि-आयामी ढाँचा, जो आपात् दृष्टि से कार्य-कारण की उफनती धारा के साथ असहाय-क्षुद्र जीव के रूप में बहा जा रहा प्रतीत होता है, वह वस्तुतः अपने विस्तार में असीम है। इसीलिए उनका तड़ित्-सा आह्वान – मानव की दिव्यता का सतत प्रबोधन है – "दिन-रात कहते रहो – मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।" एक बार वैद्यनाथ धाम में प्रियनाथ मुखर्जी के अतिथि के रूप में निवास करते समय उन पर दमा का भयंकर दौरा आया। यह दौरा इतना भयंकर था कि उन्हें लगा कि मृत्यु आ पहुँची है। सहसा उनके साँस के साथ भीतर से 'सोऽहं सोऽहं' (मैं वही हूँ, मैं वही हूँ) की गम्भीर ध्वनि उठने लगी।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी 'दिव्यता को अभिव्यक्त करने के लिए' मानव जाति के प्रति उनका यह आह्वान मात्र शाब्दिक आह्वान नहीं, वरन् उनके अन्तर की पुकार थी, एक ऐसी पुकार जिसके पीछे उनका सम्पूर्ण महिमामय व्यक्तित्व स्थित था।

४. विवेकानन्द साहित्य, जन्मशती संस्करण, १९६२, कलकत्ता, भाग ४, पृ. ४०७ (पत्रावली - जून १८९६)

५. Reminiscences of Swami Vivekananda, 1983, Mary C. Funke, Pp. 251-57)

६. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ २/३/३
– इसी के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु एवं पाँचवे यम देवता (स्वकर्मो मे) लगे है।

७. विवेकानन्द साहित्य, भाग ६, पृ. १७, (वार्ता एवं संलाप)

उपयोगितावादी अवश्य ही यह पूछेंगे – अविश्वासी तथा संशयवादी आम जनता में इस अद्वैत-दर्शन का प्रचार करने का लाभ ही क्या है? हाँ, स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें भी उत्तर दिया है। लोग सुखों के पीछे दौड़ते हैं और अपने इस दुखमय जीवन में, जो भी थोड़ा-सा सुख उन्हें मिलता है, उसे जी-जान से पकड़े रहने का प्रयास करते हैं। परन्तु वे नहीं जानते कि सच्चा सुख शरीर में नहीं वरन् आत्मा में निहित है। और इसी अज्ञानता के कारण पुनः पुनः दुःख की सृष्टि होती है। और "सबसे बड़ा अज्ञान तो यही है कि जो अनन्तस्वरूप है, वह अपने को सीमित मानकर रोता है, सारे अज्ञान की मूल भित्ति यही है कि हम अविनाशी, नित्य शुद्ध पूर्ण आत्मा होते हुए भी सोचते हैं कि हम छोटे-छोटे मन हैं, छोटी-छोटी देह मात्र हैं; यही समस्त स्वार्थपरता की जड़ है। ... अतः पूर्वोक्त ज्ञान से लाभ यह होगा कि यदि वर्तमान मानव-जाति का एक बिल्कुल छोटा-सा अंश भी इस क्षुद्रता, संकीर्णता तथा स्वार्थपरता का त्याग कर सके, तो कल ही यह संसार स्वर्ग में परिणत हो जाएगा, पर नाना प्रकार की मशीन तथा बाह्य जगत् सम्बन्धी ज्ञान की उन्नति से यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।"[८]

तो फिर सम्पूर्ण नैतिकता का आधार अद्वैत-दर्शन में ही सम्भव है – "अद्वैतवाद की शिक्षा से तुम्हें यह ज्ञान होता है कि दूसरों की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करते हो, क्योंकि वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हें मालूम हो या न हो, सब हाथों से तुम्हीं कार्य कर रहे हो, सब पैरों से तुम्हीं चल रहे हो, फिर राजा के रूप में तुम्हीं प्रासाद में सुखों का भोग कर रहे हो, फिर तुम्हीं रास्ते के भिखारी के रूप में अपना दुःखमय जीवन बिता रहे हो। अज्ञानी में भी तुम हो, विद्वान् में भी तुम हो, दुर्बल में भी तुम, सबल में भी तुम हो। इस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हें सबके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। चूँकि दूसरों को कष्ट पहुँचाना अपने ही को कष्ट पहुँचाना है, अतः हमें कदापि दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। इसलिए यदि मैं बिना भोजन के मर भी जाऊँ, तो भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं, क्योंकि जिस समय मैं भूखा मर रहा हूँ, उस समय मैं लाखों मुँह से भोजन भी कर रहा हूँ। अन्य रूप में मैं ही संसार के सारे आनन्दों का भोग कर रहा हूँ। और मेरा या इस संसार का विनाश भी कौन कर सकता है? यही नैतिकता है। इस अद्वैतवाद में ही नैतिकता की एकमात्र व्याख्या है। दूसरे इसकी शिक्षा देते हैं, पर इसके लिए कारण का निर्देश नहीं कर सकते।"[७]

भविष्य में समाज पर वेदान्त-दर्शन का एक और महत्त्व-पूर्ण प्रभाव पड़ेगा और वह है – विशेषाधिकारों का समूल नाश। हम जानते हैं कि भारतवर्ष में बहुत बड़ी संख्या में जातियाँ-उपजातियाँ और सम्प्रदाय बसते हैं। उनके बीच आपस में प्रायः ही छिड़ जानेवाला संघर्ष प्रतिवर्ष बहुत-से लोगों की बलि लेता है और यह हमारी सामाजिक-व्यवस्था का एक बड़ा दोष है। परन्तु यदि कोई वास्तव में इस समस्या की तह में जाए, तो देखेगा कि इस संघर्ष का कारण समाज का विभिन्न जातियों में विभाजन नहीं, अपितु किन्हीं जातियों का अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक विशेषाधिकार की प्राप्ति है। और यहाँ अद्वैतवाद, आत्मा का यह अद्भुत सिद्धान्त हमारे उद्धार के लिए प्रस्तुत है। इस सम्बन्ध में स्वामीजी द्वारा दिया गया समाधान इस प्रकार है – "मछुआ यदि अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करे, तो वह एक बेहतर मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे तो वह एक बेहतर विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे, तो वह एक बेहतर वकील होगा। औरों के विषय में भी यही समझो। इसका फल यह होगा कि जाति-विभाग हमेशा के लिए रह जाएगा, क्योंकि विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होना ही समाज का स्वभाव है। परन्तु ये विशेषाधिकार चले जायेंगे। जाति-विभाग प्राकृतिक नियम है। सामाजिक जीवन में एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ, तो दूसरा काम तुम कर सकते हो। तुम एक देश का शासन कर सकते हो, तो मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ, किन्तु इस कारण तुम मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या तुम मेरे जूते की मरम्मत कर सकते हो? क्या मैं देश का शासन कर सकता हूँ? यह कार्य-विभाग स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ, तुम वेदपाठ में निपुण हो। परन्तु यह कोई कारण नहीं है कि अपनी इस विशेषता के कारण तुम मेरे सिर पर पाँव रखो। यदि मछुआ को तुम वेदान्त सिखलाओगे तो वह कहेगा – 'मैं और तुम दोनों बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो मैं मछुआ, पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है वहीं मुझमें भी है।' हम यही चाहते हैं कि किसी को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो और प्रत्येक मनुष्य की उन्नति के लिए समान सुविधाएँ हों। सब लोगों को उनके भीतर स्थित ब्रह्म-तत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं चेष्टा करे।"[१०]

आजकल जब हम आम जनता के उद्धार के विषय में बहुत कुछ सुन रहे हैं और इसके साथ ही गरीबी एवं अशिक्षा – इन दोनों राक्षसों को कुचलने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न योजनाएँ चलाई जा रही हैं और विभिन्न निजी संस्थानों द्वारा विराट् स्तर पर प्रयास किये जा रहे हैं, तो क्या हमें वर्तमान परिस्थिति का अवलोकन नहीं करना चाहिए? अब तक

८. वही, भाग २, पृ. १६ (व्याख्यान – मनुष्य का यथार्थ स्वरूप)
९. वही, भाग ५, पृ. १६ (व्याख्यान – वेदान्त)
१०. वही, भाग ५, पृ. १४०-१४१ (व्याख्यान – भारतीय जीवन मे वेदान्त का प्रभाव)

हमारी लगभग आधी जनसंख्या गरीबी-रेखा के नीचे पड़ी हुई है और करीब साठ प्रतिशत भाई-बहन निरक्षरता के दलदल में डूबे हुए हैं। जो भारत, हर दृष्टि से अद्भुत सम्भावनाओं से परिपूर्ण है, इतने भव्य सांस्कृतिक विरासत से सम्पन्न है, उसके द्वारा विभिन्न राष्ट्रों की तुलना में ऐसा निराशाजनक प्रदर्शन क्या शोभा देता है ! परन्तु अब रोने का समय नहीं है। हमारे राष्ट्रनायक के शब्दों में – "अब और रोने की जरूरत नहीं। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और मर्द बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धान्तों की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें ऐसी सर्वांग-सम्पन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके। और यह रही सत्य की कसौटी – जो भी तुमको शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाए, उसे जहर की भाँति त्याग दो। उसमें जीवनी-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता है, वह ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है, जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।"[११] और जो शिक्षा हमारे बालक-बालिकाएँ विद्यालयों-महाविद्यालयों में पा रहे हैं, वह स्वामीजी की इच्छानुसार उन्हें सशक्त, सतेज तथा मनुष्य बनाने में अक्षम है। और परिणाम स्पष्ट दीख रहा है। वर्षों की विद्यालयीन शिक्षा भी निरर्थक सिद्ध होगी, यदि उसके नाम पर दिया जानेवाला तत्त्व मूलत: नकारात्मक, एकांगी तथा मनुष्य-निर्माण करनेवाले विचारों से रहित हो। अत: आइये एक बार और हम अपने नायक, अपने पथ-प्रदर्शक, अपने परित्राता के शब्दों को सुनें और इस बार उन्हें विस्मृत करने की आत्मघाती भूल न करें। वर्षों की इस लापरवाही की हमें बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है; और फिर इसके साथ ही उच्च आदर्शों की स्थापना के लिए हम अपने शास्त्रों में प्रतिपादित मूलभूत सिद्धान्तों का उपयोग करें।

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य: ।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन – पहले सुनो, फिर मनन करो और तब निदिध्यासन करो; तभी हमारे देश व देशवासियों का उद्धार हो सकेगा। "जात-पाँत का भेद छोड़कर, कमजोर और सबल का विचार छोड़कर, प्रत्येक नर-नारी को, प्रत्येक बालक-बालिका को यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे – सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है, इसलिए सभी लोग महान् और सभी लोग साधु हो सकते हैं। आओ हम प्रत्येक व्यक्ति का आह्वान करें – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** (कठोपनिषद १/३/१४) – उठो, जागो और जब तक तुम अपने अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँच जाते, तब तक चैन न लो। उठो, जागो, निर्बलता के इस व्यामोह से जाग जाओ। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्ति-सम्पन्न और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो, अपने वास्तविक रूप को प्रगट करो, उच्च स्वर में घोषित करो, उसे अस्वीकार मत करो। हमारी जाति के ऊपर घोर आलस्य, दुर्बलता और व्यामोह छाया हुआ है। इसलिए हे आधुनिक हिन्दुओ ! स्वयं को इस व्यामोह से मुक्त करो। इसका उपाय तुमको अपने धर्मशास्त्रों में ही मिल जायगा। तुम स्वयं को और प्रत्येक व्यक्ति को अपने सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो और घोरतम मोह-निद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नींद से जगा दो। जब तुम्हारी जीवात्मा प्रबुद्ध होकर सक्रिय हो उठेगी, तब तुम स्वयं ही शक्ति का अनुभव करोगे; महिमा और महत्ता पाओगे, साधुता आयेगी, पवित्रता भी आप ही चली आयेगी, मतलब यह कि जो कुछ अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे पास आ पहुँचेंगे। गीता में यदि कोई ऐसी बात है, जिसे मैं पसन्द करता हूँ, तो ये दो श्लोक हैं। कृष्ण के उपदेश के सार स्वरूप इन श्लोकों से बड़ा भारी बल प्राप्त होता है –

समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्सु अविनश्यन्तं
य: पश्यति स पश्यति ।।
समं पश्यन् हि सर्वत्र
समवस्थितम् ईश्वरम् ।
न हिनस्ति आत्मनात्मानं
ततो याति परां गतिम् ।। १३/२७-२८

– "विनाश हो रहे सब भूतों में जो अविनाशी परमात्मा को स्थित देखते हैं, यथार्थ में उन्हीं का देखना सार्थक है, क्योंकि ईश्वर को सर्वत्र समान भाव से देखकर वे आत्मा की हिंसा नहीं करते, इसलिए वे परम गति को प्राप्त होते हैं।"[१२]

❑❑❑

११. वही, भाग ५, पृ. ११९-१२० (व्याख्यान – मेरी क्रान्तिकारी योजना)

१२. वही, भाग ५, पृ. ८९-९० (व्याख्यान – वेदान्त का उद्देश्य)

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– २३ –

किताबी और व्यावहारिक ज्ञान

किसी गाँव में एक पण्डित जी रहते थे। उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। जहाँ कभी भी उन्हें दो-चार लोग मिल जाते, वे उन पर अपने ज्ञान की धाक जमाने का प्रयास करते। लोग उनकी विद्वत्ता से इतने परेशान हो गये थे कि दूर से उन्हें आते देखकर ही कन्नी काट जाते थे। परन्तु पण्डित जी भी क्या करते, अपनी आदत से लाचार थे।

एक दिन पण्डित जी नाव में बैठकर कहीं जा रहे थे। कुछ देर तक तो वे चुपचाप बैठे रहे, परन्तु धीरे-धीरे उनकी ऊब बढ़ती जा रही थी। नाव में कुल मिलाकर दो ही यात्री थे। आखिरकार उन्होंने अपने सामने बैठे यात्री से बातचीत आरम्भ की। उस पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने का प्रयास करते हुए पूछने लगे –

– "अच्छा, क्या तुमने वेद-वेदान्त पढ़े हैं?

– "नहीं, महाराज !"

पण्डित जी मुँह बिचकाते हुए बोले – "अरे, तब तो तुम्हारा चौथाई जीवन बेकार ही चला गया। इतनी दुर्लभ मनुष्य-योनि पाकर तुमने वेद-वेदान्त नहीं पढ़े !"

थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर पूछा – "तो फिर तुमने व्याकरण और साहित्य तो अवश्य ही पढ़े होंगे !"

– "नहीं, महाराज !"

पण्डित जी उस पर तरस खाकर बोले – "तब तो तुम पूरे निरक्षर भट्ट ही रह गये। साहित्य पढ़े बिना रसबोध कहाँ होता है ! तुम तो कोरे नीरस ही रह गये। केवल आहार-निद्रा करते हुए जीवित रहे और साहित्य का रस नहीं लिया, तो फिर मनुष्य तथा पशु में भेद ही कहाँ रहा ! तुम्हारा तो आधा जीवन ही बेकार चला गया।"

उन्होंने फिर इतराते हुए पूछा – "अच्छा, यह बताओ, क्या तुमने गणित, ज्योतिष आदि पढ़ा है?

– "नहीं, महाराज !"

– "तब तो तुम्हारा तीन-चौथाई जीवन ही बेकार गया। अब बताओ, ऐसे जीवन से क्या लाभ?"

इसके बाद पण्डित जी ने ज्योतिष तथा खगोल-शास्त्र की महिमा गानी आरम्भ की। बताने लगे कि किस प्रकार सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि विभिन्न ग्रह-नक्षत्र आकाश में घूमते हुए, दिन-रात, वर्ष-मास आदि के नजारे उत्पन्न करते हैं, कैसे सूर्य तथा चन्द्र-ग्रहण लगते हैं, आदि आदि और बोले – यह सब ठीक-ठीक समझे बिना जीवित रहने से भला क्या लाभ !

सुननेवाले को पण्डित जी का यह ज्ञान बघारना अच्छा तो नहीं लग रहा था, परन्तु वह नौका को छोड़कर भला कैसे भागता ! उसे मन मारे सब कुछ सुनना पड़ रहा था।

तभी आकाश में मेघ छाने लगे। जोरों की हवा बहने लगी और देखते-ही-देखते चारों ओर घोर अँधेरा छा गया। कुछ ही देर बाद नदी में ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगी। माँझी बोला – आप लोग सँभलकर बैठिए, नाव उलट सकती है।

पण्डित जी को काटो तो खून ही नहीं। नाव हिचकोले खाने लगी, ऐसी हालत हो गयी कि अब डूबी, तब डूबी।

प्रश्न पूछने की अब उस दूसरे व्यक्ति की बारी थी। उसने पूछा – "पण्डित जी, क्या आप तैरना जानते हैं?"

पण्डित जी बोले – "नहीं भाई, तैरना तो मैंने जीवन में कभी सीखा नहीं।"

वह व्यक्ति बोला – "तब तो आपका पूरा जीवन ही बेकार गया। मैंने आपका साहित्य, दर्शन और ज्योतिष तो नहीं पढ़ा, लेकिन तैरना अच्छी तरह जानता हूँ।" यह कहकर उसने नदी में छलांग लगायी और तैरते हुए किनारे लग गया; दूसरी ओर पण्डित जी अपने सारे शास्त्र-ज्ञान तथा पाण्डित्य-अभिमान के साथ सदा-सर्वदा के लिए नदी की अतल गहराइयों में समा गये।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "अनेकानेक शास्त्रों के ज्ञान से क्या होगा? भव-नदी कैसे पार की जाती है, यही जानना आवश्यक है। ईश्वर ही वस्तु है और सब अवस्तु।"

– २४ –

संसार सपने के समान मिथ्या है

किसी देश में एक किसान रहता था। वह बड़ा ज्ञानी था। किसानी करता था – स्त्री थी, बहुत दिनों के बाद – बुढ़ापे में उसे एक लड़का हुआ था। उसका नाम हारू रखा गया था। बच्चे पर माँ और बाप, दोनों का प्यार था, क्योंकि एकमात्र वही उनके प्राणों का धन था। धीरे-धीरे वह बड़ा होने लगा। किसान बड़ा धर्मात्मा था, इसलिए गाँव के सभी लोग उसे खूब मानते थे।

एक दिन वह खेत में काम कर रहा था, तभी किसी ने आकर खबर दी – हारू को हैजा हुआ, उसकी हालत बहुत खराब है। किसान ने घर जाकर देखा कि उसका अब-तब हो रहा है। उसने उसकी यथासम्भव दवा-दारू की, परन्तु अन्त में लड़का गुजर गया। उसका क्रिया-कर्म सम्पन्न हो गया।

घर के सभी लोगों को बड़ा शोक हुआ, परन्तु किसान को जैसे कुछ भी न हुआ हो। उल्टा वही सब को समझाता था कि शोक करने में कुछ नहीं है। अब अपना काम पूरा करने फिर खेत में चला गया।

घर लौटकर उसने देखा, उसकी स्त्री रो रही है। उसने अपने पति से कहा, "तुम बड़े निष्ठुर हो, लड़का जाता रहा और तुम्हारी आँखों से आँसू तक न निकले !"

किसान ने स्थिर-चित्त से कहा, "जानती हो, मैं क्यों नहीं रोता? – कल मैंने एक बड़ा भारी स्वप्न देखा। देखा कि मैं राजा हुआ हूँ और मेरे सात पुत्र हुए हैं। वे सभी रूप-गुण में एक-से-एक बढ़कर हैं। क्रमश: वे बड़े हुए और विद्या तथा धर्म का उपार्जन करने लगे। मैं बड़े सुखपूर्वक राज्य कर रहा था। परन्तु अचानक ही मेरी नींद खुल गयी। अब मैं यही सोच रहा हूँ कि तुम्हारे इस एक हारू के लिए रोऊँ या फिर अपने उन सात राजकुमारों के लिए?"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "किसान ज्ञानी था, इसीलिए वह देख रहा था, स्वप्न-अवस्था जिस तरह मिथ्या थी, उसी तरह जाग्रत अवस्था भी मिथ्या है, केवल एक आत्मा ही सत्य या नित्य वस्तु है।"

– २५ –

नाई और सात घड़े धन

किसी नगर में एक नाई रहता था। एक दिन वह अपने किसी रिश्तेदार से मिलने गाँव की ओर जा रहा था। रास्ते में एक प्रेतबाधित वृक्ष पड़ता था। उस पेड़ के नीचे से होकर गुजरते समय नाई के कानों में एक अस्फुट-सी आवाज आई। मानो कोई कह रहा था, "सात घड़े धन लेगा?"

नाई ने आश्चर्यचकित हो चारों ओर देखा, किन्तु कहीं कोई दिखाई नहीं दिया। परन्तु सात घड़े धन की बात सुनकर उसके मुँह में पानी भर आया। लोभ से वशीभूत होकर वह जोर से बोल उठा, "हाँ, हाँ, लूँगा।" तत्काल उसने फिर वही आवाज सुनी – 'ठीक है, तेरे घर पर रख आया हूँ, तू जाकर सँभाल ले।"

नाई ने घर लौटकर देखा, तो सचमुच ही सात घड़े रखे हुए थे। उसने सभी घड़ों को खोलकर उनका भलीभाँति निरीक्षण किया। उसने देखा कि छह घड़े तो सोने की मुहरों से पूरी तौर से भरे हुए हैं, परन्तु सातवाँ कुछ खाली है।

उसके मन में सातवें घड़े को भी पूरा भरने की तीव्र इच्छा जाग उठी और उसके घर में जितना भी धन, गहने आदि थे, उन सबको लाकर उसने उसी घड़े में डाल दिया। परन्तु इसके बावजूद वह घड़ा पूरा भर नहीं सका।

घड़े को पूरा भरने के लिए नाई बड़ा ही चिन्तित रहने लगा। वह अपनी घर-गृहस्थी के खर्च में कटौती करते हुए बचा हुआ सारा धन उसी घड़े में डालने लगा। इसी प्रकार महीनों बीत गये, पर वह घड़ा भरता ही न था।

एक दिन उसके मन में आया कि राजा की सहायता के बिना यह घड़ा नहीं भरेगा। अत: उसने राजा के पास जाकर प्रार्थना की कि उसे जो वेतन मिलता है उससे उसका गुजारा नहीं हो पाता, दया करके वेतन बड़ा दिया जाए।

राजा उस नाई की सेवा से बड़े सन्तुष्ट थे। कहते ही राजा ने उसका वेतन दुगुना करा दिया। पर नाई की दशा पहले जैसी ही फटेहाल बनी रही। अब तो वह लोगों से माँगकर खाता और अपना पूरा वेतन घड़े में डाल देता। और घड़ा जो था कि भरने का नाम ही नहीं लेता।

दिनो-दिन नाई की हालत को बिगड़ते देख एक दिन राजा ने पूछ ही लिया, "क्यों रे ! तुझे जब कम वेतन मिलता था, तब तो अच्छी तरह से तेरी गुजर-बसर हो जाती थी, और अब दुगुना वेतन पाकर भी तेरी ऐसी बुरी दशा क्यों है? कहीं तू सात घड़े धन तो नहीं ले आया है?"

नाई ने अचकचा कर कहा, "जी, आपको किसने बताया?"

राजा बोले – "अरे, वह तो यक्ष का धन है। एक समय यक्ष ने आकर मुझसे भी कहा था, 'सात घड़े धन लोगे?' मैंने पूछा, 'वह धन जमा करने के लिए है, या खर्च करने के लिए?' इस पर वह बिना उत्तर दिए भाग गया। यक्ष का वह धन कभी नहीं लेना चाहिए, उसे खर्च नहीं किया जा सकता, केवल उसमें जमा ही करते रहना पड़ता है। तू अगर अपना भला चाहता है, तो जल्दी से वह धन लौटाकर आ जा।"

तब नाई को होश आया। वह झटपट उसी पेड़ के नीचे जा पहुँचा। और चिल्लाकर बोला, "अपना धन तुम वापस ले जाओ, मुझे नहीं चाहिए।" यक्ष ने कहा, "ठीक है।" घर लौटकर नाई ने देखा कि सातों घड़े गायब हैं।

दुख की बात यह थी कि इतने दिनों तक उसने अपना तथा अपने परिवार का पेट काटकर उस खाली घड़े में जो कुछ धन डाला था, उससे भी उसे हाथ धोना पड़ा। निन्यानबे के चक्कर में आदमी अपनी मेहनत की कमाई का भी भोग नहीं कर सकता। धर्म के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ करता है। जमा-खर्च का ठीक-ठीक ज्ञान न रहे, तो अन्त में अपना मूल धन – अपना सर्वस्व ही गवाँ बैठना पड़ता है।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा-विषयक विचारधारा

कुलदीप उप्रेती

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा विषयक विचार-धारा बहुआयामी है। उसमें नगाधिराज हिमालय-सी उतुंगता एवं नभ-मण्डल सदृश विस्तीर्णता है। दर्शन, कला, साहित्य, विज्ञान और संगीत समेत शायद ही संसार का कोई विषय ऐसा हो, जो इस विचारधारा की परिधि में न आता हो। दो-चार डुबकी लगाकर इस भावसमुद्र की थाह कौन पा सकता है? इसके बावजूद इस शिक्षामृत का रसपान करने से अपने वैयक्तिक जीवन और समूचे समाज के प्राणों में अभिनव चेतना का संचार तो अवश्यमेव हो सकता है।

'शिक्षा' को अनादि काल से ही मानव के लिये आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हुए इसे तृतीय नेत्र की संज्ञा से विभूषित किया गया है। काल-क्रमानुसार शिक्षा की अनेक विधाएँ विकसित होती रही हैं। विशुद्ध ज्ञानार्जन से मनुष्य के चरित्र व चिन्तन को उज्ज्वल बनाकर स्वावलम्बन की पुनीत भावनाओं को विकसित करते हुए मानव के लौकिक व परलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के शुभ संकल्पों को लेकर सतत प्रवहमान होती रही शिक्षा की मन्दाकिनी, बीसवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते भीषण प्रदूषण की चपेट में आकर मात्र रोटी का जुगाड़ कर जठराग्नि की ज्वाला को शान्त करने के सीमित दायरे तक ही सिमट कर रह गयी थी। आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व सर्वप्रथम स्वामीजी का ध्यान शिक्षा की इस दुरवस्था की ओर गया और उन्होंने इस बालू-मिश्रित शर्करा को शोधित कर शिक्षा-विषयक स्वस्थ्य दृष्टिकोण प्रतिपादित किया, जिसमें उन्होंने प्राचीन एवं अर्वाचीन, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य, आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वयन करते हुए इसे युगानुकूल बनाने का भगीरथ प्रयास किया।

अनन्त विभूतिसम्पन्न महामनीषी स्वामीजी ने 'मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति' को शिक्षा माना है। शिक्षा मनुष्य के अन्तस् में व्याप्त अज्ञान की परतों को अनावृत्त कर ज्ञान-कपाट खोलती है। स्वामीजी का स्पष्ट भाव था कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के अन्दर विद्यमान विधायक विचारों को जाग्रत करके निषेधात्मक विचारों को समाप्त करना है। ताकि मानव में मानवता का पक्ष मजबूत हो सके और वह अपने पैरों पर खड़ा होकर गौरवपूर्ण ढंग से जीवन व्यतीत कर सके। दूसरे शब्दों में, **शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को स्वावलम्बी बनाना तथा उसमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करना है**। क्योंकि स्वावलम्बन तथा आत्मविश्वास की भावनाओं के जागरण से अनेकों समस्याओं का अन्त होने के साथ ही व्यक्ति के आदर्श कर्मयोगी बनने का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

युगावतार स्वामीजी शिक्षा को केवल विविध जानकारियों का एकत्रीकरण नहीं मानते। वे चाहते हैं कि उन विचारों को शिक्षा के माध्यम से व्यवहृत करते हुए मनुष्य के जीवन तथा चरित्र का निर्माण किया जाये। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं – "शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है, जो मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमे उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, चरित्र-निर्माण में सहायक हों। केवल पाँच विचारों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र का गठन कर सके, तो तुम पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ कर लेनेवाले से अधिक शिक्षित हो।" कोरा किताबी ज्ञान प्रदान करनेवाली शिक्षा को मनुष्य के लिए व्यर्थ मानते हुए उन्होंने इसे गधे की पीठ पर चन्दन के बोझ की उपमा देते हुए कहा – "**यथा खरश्चन्दन भारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य** – चन्दन ढोनेवाला गधा सिर्फ उसके बोझ का अनुभव कर सकता है, चन्दन का मूल्य समझ पाना उसके बूते की बात नहीं।"

युगपुरुष स्वामीजी मनुष्य को शारीरिक एवं स्वावलम्बन की शिक्षा दिये जाने के प्रबल हिमायती रहे। वे तोता-रटन्त तथा व्यक्ति के श्रद्धा व विश्वास को खण्डित कर रही वर्तमान शिक्षा के प्रबल विरोधी थे। ऐसी शिक्षा-पद्धति पर कटाक्ष करते हुए स्वामीजी कहते हैं – "हमारे शिक्षा-शास्त्री हमारे बच्चों को केवल तोता बना रहे हैं और रटा-रटाकर उनके मस्तिष्क में कई विषय ठूँसते जा रहे हैं। वाह! ग्रैजुएट बनने के लिए कितना उन्माद है और कितनी दौड़-धूप हो रही है और कुछ दिनों बाद सब ठण्डा पड़ जाता है। और आखिर में वे सीखते भी क्या हैं बस यह न कि हमारा धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज सब खराब हैं और पश्चिम लोगों की सब बातें अच्छी हैं। इस प्रकार हम महानाश को निमंत्रित कर रहे हैं। आखिर इस उच्च शिक्षा के रहने या न रहने से क्या बनता-बिगड़ता है! बल्कि ज्यादा अच्छा तो यह होगा कि उच्च शिक्षा पाकर नौकरी के लिए दफ्तरों में खाक छानने के बजाय इन लोगों को थोड़ी-सी तकनीकी शिक्षा दी जाय, जिससे काम-धन्धे में लगकर वे अपना पेट पाल सकें।"

और – "आज देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की माँसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु, दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छा-शक्ति, जो सृष्टि के गुप्त रहस्यों को भेदे और जिस उपाय से भी हो, अपने उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ हो। हमें सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में मनुष्य बनानेवाली शिक्षा चाहिए।"

युगद्रष्टा स्वामीजी ने शिक्षा को सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति माना है, क्योंकि शिक्षा का अर्जन सामूहिक सहयोग के बिना असम्भव है। सही मायने में शिक्षित होने के लिए समाज के सभी अंगों के सहयोग की जरूरत होती है। कोई भी व्यक्ति दूसरों के सहयोग के बगैर सुशिक्षित नहीं हो सकता। अत: उन्होंने इस सामूहिक विरासत का उपयोग 'सर्वजन-हिताय' के कल्याणकारी दृष्टिकोण से किये जाने पर बल दिया है।

स्वामीजी कहते हैं – "अपने निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति हमारा कर्तव्य है, सिर्फ उन्हें शिक्षा देना और उनके खोये हुए व्यक्तित्व को पुन: प्रदान करना। .... उन्हें अच्छे अच्छे भाव देने होंगे। उनके चारों ओर दुनिया में क्या हो रहा हैं, इस सम्बन्ध में उनकी आँखें खोल देनी होंगी। उसके बाद वे अपना उद्धार स्वयं कर लेंगे। प्रत्येक जाति के नर नारी को उत्तम भाव दे दो। उन्हें इतनी ही सहायता की जरूरत है। बाकी सब इसके फलस्वरूप खुद ही आयेगा। हमें रासायनिक पदार्थों को एकत्र भर करना होगा। तत्पश्चात् रवों का निर्माण तो प्राकृतिक नियमानुसार खुद ही हो जायेगा। हमारा कर्तव्य है उनके दिमाग में कुछ चिन्तन-धारा प्रवाहित करना, बाकी वे स्वयं कर लेंगे। पहले पूरे समाज को शिक्षा दो। समाज-सुधार के लिए भी प्रथम कर्तव्य है – जनसाधारण को शिक्षित करना। शिक्षा पूरी होने तक प्रतीक्षा करनी होगी।"

स्वामीजी स्त्री-शिक्षा के भी पृष्ठपोषक रहे। उनका मानना है कि समग्र समाज का जीवन-स्तर ऊपर उठाने के लिए सभी नर-नारियों को शिक्षित किया जाना जरूरी है। लेकिन इसके बावजूद नारी को समुचित रूप से शिक्षा दिया जाना अधिक जरूरी है, क्योंकि नवजात शिशु नारी की देह व मन का बहुत बड़ा हिस्सा लेकर जन्म लेते हैं, इसलिए उस नारी-रूपी खान को शैक्षणिक रूप से समुन्नत किया जाना चाहिए, ताकि भावी समाज को बहुमूल्य नररत्नों की प्राप्ति हो सके।

उन्हीं के शब्दों में – "स्त्रियों की बहुत-सी समस्याएँ हैं, पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं हैं, जो इस जादू भरे 'शिक्षा' शब्द से हल न हो सके। स्त्रियों को ऐसी अवस्था में रखना चाहिए कि वे अपनी समस्याओं को अपने ही तरीके से हल कर सके। स्त्री-शिक्षा का विस्तार धर्म को केन्द्र बनाकर होना चाहिए। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धार्मिक शिक्षा, चरित्र-गठन, ब्रह्मचर्य-पालन – इन्हीं की ओर ध्यान देना चाहिए। हमारी जन्मभूमि को अपनी समुन्नति के लिए अपनी कुछ सन्तानों को विशुद्धात्मा ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी बनाने की जरूरत है। यदि स्त्रियों में एक भी ब्रह्मज्ञ हो गयी, तो उसके व्यक्तित्व के तेज से हजारों स्त्रियाँ प्रेरणा पायेंगी और सत्य के प्रति जाग्रत हो जायेंगी। इससे देश और समाज का बड़ा उपकार होगा। सुशिक्षित और सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियाँ शिक्षा-कार्य का भार अपने ऊपर लें। इतिहास और पुराण, गृह-व्यवस्था और कला-कौशल, गृहस्थ्य-जीवन के कर्तव्य और चरित्र-गठन के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी होगी। और दूसरे विषय जैसे सीना-पीरोना, गृहकार्य, शिशु-पालन आदि भी सिखाये जायँ। जिन सद्‌गुणों के कारण हमारी माताएँ प्रसिद्ध हैं, उनकी सन्तानें इन सद्‌गुणों में और वृद्धि करेंगी। शिक्षित और धार्मिक माताओं के घर में ही महापुरुष जन्म लेते हैं। यदि स्त्रियाँ उन्नत हो जायें, तो उनके बालक अपने उदार कार्यों द्वारा देश का नाम उज्ज्वल करेंगे। तब तो देश में संस्कृति, ज्ञान, शक्ति तथा भक्ति जागृत हो जायेगी।"

इक्कीसवीं सदी में उसकी प्रासंगिकता

२१वीं सदी अर्थात् वैज्ञानिक एवं तकनीकी चमत्कारों के चरमोत्कर्ष पर पहुँची, भौतिकता के चकाचौंध भरे राग-रंगो की मस्ती में थिरकती मानव-सभ्यता। ऐसे कम्प्यूटरी युग में स्वामीजी जैसे महान् निस्पृह संन्यासी की शिक्षा-विषयक विचारों की क्या प्रासंगिकता होगी? पाश्चात्य भावों का अन्धानुकरण करनेवाले लोग प्राय: ऐसे ही प्रश्न किया करते हैं।

पाश्चात्य भावों के मकड़जाल में फँसी तथाकथित सभ्य कहलानेवाली आधुनिक विचारधारा युक्त नई मनीषा ने शायद इस विषय में स्वस्थ्य चिन्तन नहीं किया है। यदि निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया गया होता, तो उन्हें स्वयं ही इसका समुचित समाधान मिल गया होता। आइये, अपने इन चर्मचक्षुओं पर लगे भोगवादी संस्कृति के आवरण को हटाते हुए इस पर दृष्टिपात करें; रॉक-पॉप की ध्वनि से कर्णपटों को अल्प विश्राम देकर इस विश्वसुधा में गूँज रही उस विश्वात्मा सन्त की लोक-मंगलकारी अमृतमयी वाणी का श्रवण करें और निर्मल मन से इस पर चिन्तन-मनन करते हुए हृदय-पटल पर इसकी धारणा कर सकें, तो हृदयाकाश पर छायी संशयरूपी घनघोर मेघावली को छँटने में तनिक भी देरी नहीं लगेगी। महाभारत-कालीन अर्जुन की भाँति हमारे कण्ठ से भी – **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा** – के स्वर गुँजायमान हो उठेंगे।

२१वीं सदी में पूरी मानवता के समग्र विकास में स्वामीजी की शिक्षा-विषयक विचारधारा अतीव प्रासंगिक है। आज की हमारी शिक्षा-व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण सिद्ध हो रही है। वह अपने मूल सिद्धान्तों को भूल चुकी है। फलस्वरूप व्यक्तित्व में बिखराव, विघटन एवं किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति उत्पन्न होकर समाज में निरन्तर अवांछनीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं। जहाँ एक ओर भौतिक विज्ञान में अनेकों नवीन कीर्तिमान स्थापित हुए हैं, वहीं दूसरी ओर विगत अर्द्धसदी के दौरान नैतिकता व चारित्रिक क्षेत्र में अकल्पनीय पतन हुआ है। प्रच्छन्न भोगवादी संस्कृति के आपाधापी भरे इस दौर में आपराधिक कृत्यों में असामान्य वृद्धि, मानवीय मूल्यों में निरन्तर गिरावट चिन्तनीय है। इन सब परिस्थितियों के सुधार

व समस्याओं के स्थायी समाधान के तत्त्व युगर्षि स्वामीजी के दर्शन में विद्यमान हैं।

प्रखर मेधासम्पन्न त्रिकालज्ञ स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत शिक्षा-विषयक विचारधारा को तमाम अनसुलझी सामाजिक समस्याओं के कारगर समाधान हेतु 'रामबाण औषधि' कहा जाये, तो अत्युक्ति नही होगी। स्वामीजी की शिक्षा-विषयक विचारधारा ठोस एवं वैज्ञानिक सत्य की मजबूत बुनियाद पर आधारित है। आज शिक्षा का सम्बन्ध मानव के नैतिक व चारित्रिक विकास से न होकर, बौद्धिक ज्ञान की वृद्धि करना मात्र रह गया है। स्वामीजी के शब्दों में, "शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था 'बाबू' पैदा करने की मशीन होकर रह गयी है।" आज की शिक्षा में व्यक्ति के समग्र विकास की सामर्थ्य नहीं रह गयी है। शिक्षित युवकों में स्वावलम्बन, आत्मविश्वास, श्रद्धा एवं नैतिक मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है। ऐसी भयावह परिस्थिति में स्वामीजी के प्रेरणाप्रद शक्तिदायी विचार तूफान में बन्दरगाह की भाँति अतीव उपयोगी हैं। स्वामीजी ने हमें नवीन दृष्टि दी। इक्कीसवीं सदी की उन्मुक्त भोगवादी व्यवस्था में शिक्षा के बाह्य अर्थकरी कलेवर को ही महत्त्व दिया जा रहा है और उसके आत्मिक पक्ष (नैतिक व चारित्रिक विकास) की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसे शुभ संकेत नहीं माना जा सकता। ऐसी विपरीत परिस्थिति में स्वामीजी की विधेयात्मक बहुपक्षीय शिक्षा को प्रतिस्थापित किया जाना आज की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी से वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में आई खामियों को दूर करने में सहायता मिलेगी और शिक्षितों में स्वावलम्बन, आत्मविश्वास, श्रद्धा एवं चारित्रिक गुणों को विकसित किया जाना सम्भव होगा और शिक्षा के परम व चरम लक्ष्य – 'तन को स्वस्थ, मन को उर्वर तथा आत्मा को पूर्णत: विकसित करके, सर्वोत्तम व्यक्तित्व के विकास' की प्राप्ति सुगमता से हो सकेगी। इस प्रकार स्वामीजी की शिक्षा-विषयक विचारधारा इक्कीसवीं सदी के लिये वरदान सिद्ध होगी।

किमधिकम्, विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी की शिक्षा-विषयक विचारधारा शाश्वत है और नित्य-नवीन भी। इसके भावों को ग्रहण करके कोई भी व्यक्ति मानव से महामानव बन सकता है। इक्कीसवीं सदी की समस्याओं और चुनौतियों का सार्थक समाधान स्वामीजी की शिक्षा-विषयक विचारधारा में सूत्र-रूप में मौजूद है। इसको विश्व-मानवता के चिन्तन एवं क्रिया-कलापों के व्यापकतम क्षेत्रों में समाविष्ट करते हुए श्रेष्ठतम विकास की परिकल्पना को साकार करना सम्पूर्ण मानवता के लिए श्रेयस्कर है। ❑❑❑

आज के परिप्रेक्ष्य में धर्म की प्रासंगिकता

स्वामी सत्यरूपानन्द

हमारा देश आज संकट और संक्रान्ति से गुजर रहा है। हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना है कि हम अपने देश की समस्या का समाधान कैसे कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति विश्व में सर्वश्रेष्ठ संस्कृतियों में से एक है। भारतीय संस्कृति ने एकता का संदेश विश्व को दिया है। हमारे ऋषियों ने वेदों में कहा – **एकं सद्विप्रा: वहुधा वदन्ति** – वह सत्य या ईश्वर एक है, विद्वान् लोग उसको विभिन्न नामों से पुकारते हैं। विश्व को भारत का यह सबसे बड़ा संदेश है। संसार के जितने बड़े धर्म हैं वे सभी ईश्वर के पास जाने के रास्ते हैं, ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति सभी धर्मो का सम्मान करती है। और यही कारण है कि आज भारतवर्ष में संसार के सभी धर्मो के लोग निवास करते हैं और भाईचारा से रहते हैं। बीच में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आई कि कुछ विकृत लोगों ने हमारे बीच धार्मिक द्वेष फैलाने का प्रयत्न किया। आज हम भारतीयों का पहला कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति पर विचार करें। हमारी संस्कृति का प्राण है हमारी आध्यात्मिकता। और हमारी आध्यात्मिकता कहती है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है ईश्वर को जानना या अपने आप को जानना। मनुष्य केवल हाड़-मांस का पुतला नहीं है। मनुष्य के भीतर एक चैतन्य शक्ति है जिसको कोई आत्मा कहते हैं, कोई रुह कहते हैं, कोई जीव कहते हैं, किन्तु ये सब एक ही तत्त्व या चैतन्य शक्तियाँ हैं। यह आत्मा, यह रुह, यह जीव यही मनुष्य का सत्यस्वरूप है। इस रूप में एक मनुष्य दूसरे से भिन्न नहीं है। भारतीय संस्कृति कहती है, 'इस विराट विश्व की रचना ईश्वर ने की है, इसलिए विश्व का प्रत्येक प्राणी हमारा अपना सहोदर है'। भारतीय संस्कृति न केवल मनुष्य, अपितु विश्व के सभी प्राणियों में उस आत्मा को देखने का प्रयत्न करती है और सबके साथ एकत्व का बोध करती है।

हमारे देश की, हमारी संस्कृति की विशेषता है – 'विविधता में एकता'। हम संसार की सारी विविधताओं को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव में विभिन्नता होती है, उसी प्रकार मनुष्य के विचार में, मनुष्य के धर्म में, मनुष्य के आचरण में विभिन्नता होती

है। किन्तु यही भिन्नता एक दूसरे को दूसरे मनुष्य से अलग नहीं करती। यही भिन्नता हमें सूचित करती है कि तुम अपने मार्ग से चलकर अपने गन्तव्य तक पहुँच सकते हो। स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा था, 'जितने मन उतने पथ'। भारतवर्ष की आज यह आधुनिक आवश्यकता है। भारत में हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हम लोग इस सत्य को स्वीकार करें। हम भारतीय लोग संसार के सभी धर्मों का सम्मान करते हैं। न केवल सम्मान करते हैं, अपितु यह स्वीकार करते हैं कि संसार के सभी धर्म ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग हैं। स्वामी विवेकानन्द ने यह कहा इसलिए हम भारतीयों का यह प्रथम कर्तव्य है कि हम अपने देश में रहने वाले सभी धार्मिक बन्धुओं से गले मिलें, हम एक-दूसरे को बताएँ कि आपका और हमारा धर्म ईश्वर के पास पहुँचने का एक मार्ग है, किन्तु जो शाश्वत धर्म है, वह एक ही है। आपकी उपासना-पद्धति, मेरी उपासना-पद्धति, मुसलमान की उपासना पद्धति, हिन्दू की उपासना-पद्धति, ईसाई की उपासना पद्धति, जैन या सिक्ख भाइयों की उपासना-पद्धति उसी धर्म की शाखाएँ हैं। मूलत: धर्म एक है। इसलिए भारतीय संस्कृति के प्राण इस आध्यात्मिकता को हमें बचाना होगा। आध्यात्मिकता यह कहती है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर वह दिव्य चेतना जिसे आत्मा, रूह, जीव, भगवान जो भी कह लें, वह विद्यमान है और उसे जानना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। अपने भीतर विद्यमान इस आत्मा को जानने के बाद संसार में सब कोई अपना लगता है। फिर वह किसी से घृणा नहीं करता। सब उसके अपने हो जाते हैं। इसलिए हमारे ऋषियों ने कहा – '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' – यह सारी वसुधा, यह सारी पृथ्वी तुम्हारा कुटुम्ब है, तुम्हारा परिवार है। आज हम Globalization – विश्व एकीकरण की बात करते हैं। हजारों साल पहले हमारे ऋषियों ने कहा यह सारा विश्व एक मकान के समान, एक घर के समान है। इस आदर्श को पहले हम भारतीयों को पालन करना है। हमने स्वाधीनता के इस ५५ वर्ष पश्चात् देख लिया कि केवल राजनीति के द्वारा, केवल अर्थनीति के द्वारा, केवल समाज-नीति के द्वारा भारत की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है। भारत के समाधान में राजनीति आवश्यक है, अर्थनीति भी आवश्यक है, सामाजिक चेतना, समाज-सुधार आवश्यक है, पर इन सबका आधार आध्यात्मिकता होगी। और आध्यात्मिकता यह कहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके नैतिक और आध्यात्मिक विकास का पूर्ण अवसर दिया जाय। उसमें जाति, धर्म, वर्ण, लिंग किसी प्रकार की बाधा नहीं है। भारत में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर मिले कि वह अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास करे। उसके विकास में केवल एक शर्त है, उसका विकास दूसरे किसी के ह्रास का कारण न हो। हमारा आत्मिक विकास, हमारा व्यक्तिगत विकास समाज या किसी व्यक्ति की किसी प्रकार की हानि न करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता यह कहती है कि संसार के प्रत्येक मनुष्य में वही परमात्मा विराजमान है। इसलिए उसका सम्मान करें। हम व्यक्ति की केवल योग्यता का सम्मान नहीं करते। हम व्यक्ति में छिपे हुए गुणों का भी सम्मान करते हैं। और हम विश्वास करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक सम्भावना है। यदि उसे उचित अवसर मिले तो वह अपनी शक्ति का सर्वांगीण विकास कर सकता है। यह तभी सम्भव है जब हम भारत में रहने वाले सब लोग पहले विचार करें, यह दृढ़ निश्चय करें कि सर्व प्रथम 'हम भारतीय हैं'। भारतीय होने के बाद हम चाहे मराठी हैं, बंगाली हैं, हिन्दी-भाषी हैं, उर्दू-भाषी हैं या फिर किसी जाति या प्रान्त में रहने वाले हैं। उसके बाद हम किसी धर्म के मानने वाले हैं। उसके बाद ही हम किसी भी प्रकार के खान-पान-आचार-व्यवहार करने वाले हैं। किन्तु मूलरूप से हम सब उस भारत माँ की सन्तान हैं, उत्तर से दक्षिण तक, पूरब से पश्चिम तक सारा भारतवर्ष एक है।

भारतीय के रूप में हम न केवल हिन्दू हैं, न मुसलमान हैं, न ईसाई हैं, न जैन हैं और न ही सिक्ख हैं, यह तो उपासना पद्धति है। हम मूलत: भारतीय हैं। इसलिए आज इस संकट की घड़ी में हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम अपने विचार बदलें। यह निश्चय करें कि हम सब भारतीय हैं और यह ध्यान रखें या निश्चित जानें कि भारत के कल्याण में ही हमारा कल्याण है। भारत की उन्नति में ही हमारी उन्नति है। भारत के मंगल में ही हमारा मंगल है। यदि हम भारत के कल्याण, भारत की उन्नति और भारत के मंगल की ओर ध्यान न देंगे तो व्यक्तिगत रूप में हम कितने भी उन्नत हो जायँ, एक-न-एक दिन हमारा विनाश होगा, हम सुखी नहीं रह सकेंगे। अत: आप किसी भी राजनीति में विश्वास करते हों, किसी भी अर्थनीति में विश्वास करते हों, किसी भी धर्म में विश्वास करते हों, उसके माध्यम से हम भारतीय संस्कृति की एकता का आश्रय लेकर भारत माँ के उत्थान का व्रत लें। हम यह निर्णय और निश्चय करें कि हम अपने जीवन के हर कार्य के द्वारा भारतीय संस्कृति को उन्नत करेंगे और भारत को पुन: विश्वगुरु के स्थान पर प्रतिष्ठित करेंगे। ❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की सार्वभौमिक राष्ट्रभक्त की कसौटी

स्वामी प्रपत्यानन्द

जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं ।
वह हृदय नहीं है, पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं ।।[१]

जिस व्यक्ति के हृदय में संवेदना नहीं है, जिसके उर में प्राणीमात्र के प्रति प्रेम-प्रवाह नहीं होता, जो प्राणियों के दुख-कष्ट पीड़ात्मक व्यथा से व्यथित नहीं होता, जो दीन-हीनों की दुर्दैन्य-दुर्दशा से, क्षुधा-पिपासा से क्षुब्ध नहीं होता, वह जड़ है, पत्थर है, वह कभी भी मानवता का हितैषी नहीं हो सकता। जो मानव-प्रेमी नहीं, मनुष्य-हितकारी नहीं, प्राणी-प्रेमी नहीं, संसार के सुख-दुखों से संवेदनित नहीं है, वह कदापि राष्ट्रप्रेमी, देशप्रेमी विश्वप्रेमी नहीं हो सकता। इसीलिए 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता आनन्दवर्धनाचार्य ने कवियों को 'सहृदय' शब्द से अभिहित किया है – **सहृदयमनःप्रीतये, सहृदयहृदय-आह्लादि, सहृदयहृदय संवेद्य** आदि।[२]

राष्ट्र, राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रभक्त

राष्ट्र को परिभाषित करते हुए महान् कवयित्री और लेखिका महादेवी वर्मा जी कहती हैं – "नदी-पर्वत-समतल मात्र राष्ट्र नहीं बन जाते और न मानवों की विषम भीड़ ही राष्ट्र कहलाने की अधिकारिणी हो जाती है। वस्तुतः राष्ट्र शब्द से प्रबुद्ध, चेतन, किन्तु स्वेच्छया एकताबद्ध मानव-समूह और उसका परिवेश दोनों का बोध होता है।"[३] ... "एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर से सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट संकल्प-स्वप्न तक, एक ही ईकाई है, वैसे राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।"[४]

प्रो. विराज राष्ट्र की परिभाषा देते हुए कहते हैं – "किसी भी बड़े भू-भाग को हम देश कह सकते हैं, किन्तु वहाँ के पहाड़, वहाँ की नदियाँ और वहाँ के वन ही देश के सब कुछ नहीं हैं, अपितु उस देश के निवासी देश का और भी महत्व-पूर्ण अंग हैं। जैसे भू-भाग के बिना केवल निवासी देश नहीं कहला सकते, उसी प्रकार निवासियों के बिना भी कोई भू-भाग देश नहीं कहला सकता, विशेष रूप से देशभक्त की दृष्टि में। उपरोक्त वस्तुओं के प्रति तीव्र प्रेम होना ही देशभक्ति है।"[५]

जो स्वदेश के प्राकृतिक पदार्थों भौगोलिक सीमाओं, वहाँ के प्राणियों का संरक्षण, पालन-पोषण करता है, उनसे प्यार करता है, उनके सुख-दुख में सहभागी बनता है, उनके संवर्धन हेतु, उनके विकास हेतु प्राणपण से, सच्चाई से प्रयत्न करता है, आत्मबलिदान करता है, वह राष्ट्रभक्त है, वह देशभक्त है।

उपरोक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट निष्कर्ष निःसृत होता है कि राष्ट्र केवल सीमित भूखण्ड नहीं, मात्र वहाँ की सरिता, गिरि, निर्झर, अरण्यप्रदेश और जनसंकुल एवं प्राणी समुदाय ही नहीं, अपितु सबका समन्वित रूप है, यह सब कुछ मिलकर एक राष्ट्र है। इसमें सबसे प्रमुख हैं – राष्ट्र के निवासी, देशवासी जिन्हें 'मानव' या 'मनुष्य' शब्द से सामान्यतः अभिहीत किया जाता है। इस राष्ट्र रूपी शरीर की मनुष्य ही आत्मा है। जैसे आत्मा के बिना शरीर मूल्यहीन है, वैसे ही मनुष्यविहीन राष्ट्र मूल्यहीन है। वस्तुतः मनुष्यविहीन राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। राष्ट्र की अन्य सभी वस्तुएँ, वहाँ की प्राकृतिक सम्पदा, भूखण्ड, पशु आदि सभी मनुष्य के विकास में सहायतार्थ हैं। मानव-जीवन की प्रगति, उनकी सुरक्षा, उनके मनुष्यत्व विकास, उनके उत्तमतम जीवन को सुविकसित करना ही इनका उद्देश्य एवं उपयोगिता है।

प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्राचीन परम्परायें, संस्कृतियाँ, सभ्यताएँ, स्वाभिमान, आत्मगौरव विरासत में प्राप्त करता है। अपने देश के महापुरुषों की जीवन-गाथायें, प्रेरक जीवन-चरित, नैतिक, सदाचारी वीर-पुरुषों की प्रेरणाप्रद वाणी वहाँ के राष्ट्रवासियों को सर्वदा प्रबुद्ध करती रहती है, उन्हें प्रेरणा प्रदान करती रहती है, राष्ट्रीय अस्मिता, राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षार्थ, संवर्धनार्थ पुनः पुनः जागृत करती रहती है।

राष्ट्रीय संस्कृति, सभ्यता, वहाँ की वेश-भूषा, रहन सहन, आचार विचार, सामाजिक रीतियाँ, प्राकृतिक सम्पदा, भौगोलिक सीमाओं तथा अन्य प्राणियों की रक्षा भी मनुष्यों के द्वारा ही शासक, प्रबुद्ध नागरिक के रूप में की जाती है। अतः मनुष्य विशेष रूप से सर्वप्रथम द्रष्टव्य, संरक्षणीय एवं सम्मानीय है। मनुष्य की सेवा करने वाला, उसका परित्राण करने वाला, उनके उन्नयन में सहायता करने वाला, उसको सुख-शान्ति-आनन्द वितरण करने वाला, उसकी सम्यक् समृद्धि, मंगल हेतु निःस्वार्थ अपना तन-मन-धन सर्वस्व समर्पित करने वाला सच्चा राष्ट्रभक्त है।

राष्ट्र-सेवा के विभिन्न स्वरूप

राष्ट्रीय सेवा के विभिन्न आयाम हैं, इसके विभिन्न स्वरूप हैं। कोई चिकित्सक बनकर देशवासियों की सेवा करता है, तो कोई शिक्षक बनकर। कोई वैज्ञानिक बनकर नये नये अविष्कार कर अपनी सेवायें देता है, तो कोई अभियन्ता बनकर। कोई देश के विभिन्न कार्यालयों में अपनी अपनी बौद्धिक क्षमतानुसार देश की सेवा करता है, तो कोई सैनिक बनकर देश की सीमा पर शत्रुओं से लड़कर देश की सेवा करता है। किसान खेतों में खाद्य पदार्थ आदि उपजाकर जनता को सुख पहुँचा कर देश की सेवा करते हैं, तो कोई प्राईवेट विभिन्न प्रकार की स्वयंसेवी

संस्थाओं के द्वारा जन-सेवा करते हैं।

कोई केवल राष्ट्रीय भावनापरक विचारों जैसे – व्याख्यान, लेख, कविता, नाटक, उपन्यास आदि के द्वारा अपनी साहित्यिक क्रिया-कलापों से देश की सेवा करते हैं, तो कोई विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय विकास और उसकी सुरक्षा आदि योजनाओं को प्रदान कर सेवा करते हैं। कोई इन योजनाओं को, इन नैतिक सिद्धांतो को अपने जीवन में आचरित कर एवं दूसरों के जीवन के विकास में सहायता कर देश की सेवा करते हैं। कोई देश-भक्तिपरक चित्र, पोस्टर, देशभक्तों की जीवन गाथा को नि:शुल्क वितरण कर देशवासियों में देशभक्ति जाग्रत कर देश की सेवा करते हैं। छात्र अपने अध्ययन के द्वारा अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन कर सेवा करते हैं। राजनेता गण अपनी राजनीति से एवं अभिनेता और नाटककार अपनी कलाओं से सेवा करते हैं तथा समाज-सेवक अपने सद्विचारों एवं नैतिक जीवन से राष्ट्र की सेवा करते हैं। इस प्रकार सेवा के विभिन्न प्रकार हैं। इन सबके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से किये गये सतत प्रयत्न एवं सेवा से ही राष्ट्र समृद्ध, सुख-शान्तिमय और गौरवशाली बनता है।

राष्ट्र-सेवा का मापदण्ड क्या है?

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, तुम जो सोचोगे वही बनोगे। भावना के अनुसार ही हमें सफलता मिलती है। मनुष्य के जीवन में विचार ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि विचार और चिंतनानुसार ही व्यक्ति क्रिया करता है तथा क्रियानुसार ही उसे सफलता प्राप्त होती है। राष्ट्रभक्ति में, राष्ट्रीय सेवा में राष्ट्रीय भावना ही प्रधान है। पूर्वोक्त कथित समस्त सेवाएँ यदि राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण नहीं हैं, तो वह राष्ट्रीय सेवा नहीं कही जा सकतीं, वह व्यक्ति राष्ट्रभक्त नहीं हो सकता।

अत: प्रत्येक देशवासी में आबालवृद्धवनिता पर्यन्त सब में, उन सबकी एक-एक क्रिया में, श्वास-प्रश्वास में राष्ट्रभक्ति की भावना अनुस्युत होनी चाहिए, ओत-प्रोत होनी चाहिए – 'हमारे इस छोटे से कार्य से भी हमारा देश महान् बनेगा। हमारे देशवासी सुखी होंगे। हमारी भारतमाता की गरिमा बढ़ेगी' – इस प्रकार की भावना से किया गया छोटा-से-छोटा कार्य एवं इसकी पूर्ति हेतु देश के शान्त, एकान्त किसी कोने में सतत क्रियाशील रहकर अपना जीवन न्यौछावर करने वाला व्यक्ति भी एक महान् देशभक्त हो सकता है।

राष्ट्रभक्ति और राष्ट्र-सेवा में राष्ट्रीय भावना ही उसका मापदण्ड है। क्योंकि राष्ट्रभक्ति की भावना होने पर उसके अनुसार ही परिवेश गठित होता है और वैसा ही कल्पित राष्ट्र एक दिन साकार होता है।

स्वामी विवेकानन्द की राष्ट्रभक्त की कसौटी

साधारणत: देखा जाता है कि एक देश की राष्ट्रभक्ति दूसरे देश की राष्ट्रभक्ति में बाधा पहुँचाती है। एक देश का राष्ट्रभक्त दूसरे देश का शत्रु हो जाता है। दो देशों के सैनिक अपने अपने देश की सुरक्षा हेतु स्वदेशभक्त का परिचय देते हुये परस्पर शत्रुभाव रखते हैं। उनकी देशभक्ति दूसरे देशभक्तों में शत्रुता का जन्म देती है। देश-काल-परिस्थिति के अनुसार एक देश की देशभक्ति दूसरे देश के लिये उपयोगी नहीं होती। ऐसे अनेकों उदाहरण समाज के सामने विद्यमान हैं। इसलिये ऐसी कौन-सी कसौटी हो सकती है, जो सम्पूर्ण विश्व के समस्त व्यक्तियों के लिये हितकर हो, सम्पूर्ण जगत् के निवासियों के लिये कल्याणकारी हो और सभी राष्ट्रभक्तों को सार्वभौमिक राष्ट्रभक्ति का सम्यक् सन्देश देता हो? आइये! हम चलते हैं महामानव, विश्व के प्राणियों की संवेदना को अपने हृदय के अन्तस्तल में अनुभव करने वाले विश्वबन्धु स्वामी विवेकानन्द जी के पास। स्वामीजी ने राष्ट्रभक्तों की प्रमुख तीन कसौटियाँ बताई हैं, जो सभी देशों के देशभक्तों को परीक्षण करने की सार्वजनिक कसौटी है, जिसके द्वारा हम सच्चे राष्ट्रभक्त को पहचान सकते हैं। वे कसौटियाँ कौन-कौन सी हैं?

पहली कसौटी

स्वामी विवेकानन्द जी अपने मद्रास में प्रदत्त व्याख्यान में कहते हैं – "मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ। और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। पहला है – **हृदय की अनुभव शक्ति**। बुद्धि या विचार शक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और वहीं रुक जाती है, पर हृदय तो प्रेरणा-श्रोत है। प्रेम असम्भव द्वारों को भी उद्घाटित कर देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है। अतएव, हे मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो! तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशु-तुल्य हो गई हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारे धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गई है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक की अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो? यदि 'हाँ' तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है – हाँ, केवल पहली ही सीढ़ी पर।"[६]

इस निबन्ध की भूमिका में ही प्रतिपादित है कि संवेदनशील हृदयवान, परदुखकातर, दयालु, उदारचित्त व्यक्ति ही राष्ट्रभक्त हो सकता है। विराट विश्व की एकता की हृदय में अनुभूति के विषय में मैथिलीशरण गुप्त जी लिखते हैं –

आकृति वर्ण और वह वेष ।
ये सब निज वैचित्र्य विशेष ।।
डालें अन्तर्दृष्टि निमेष, देखो अहा एक ही प्राण ।
विश्वबन्धुत्व में ही त्राण ।।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सेनानियों ने अपने देशावासियों की पीड़ा को हृदय में अनुभव किया था। अनेकों राजनेताओं, समाज-सुधारकों आदि ने राष्ट्र की प्रजा की पीड़ा का अपने हृदय में अनुभव किया था। तभी वे अपना सम्पूर्ण जीवन देश के लिए न्यौछावर कर सके।

वैदिक ऋषियों और परवर्ती सन्त महात्माओं ने मनुष्य की सुख-समृद्धि एवं दुखों से मुक्ति तथा आनन्द प्राप्ति हेतु अनेकों पथों मतों की खोज की। स्वयं कठोर तपस्या कर, वनों में रहकर मानव के सुखमय मार्गों का निर्देशन किया। राजकुमार सिद्धार्थ मानवीय पीड़ा से पीड़ित हो, सुख की खोज में निकले और निर्वाण प्राप्त कर बुद्ध बन गये। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद ने दीन-हीनों की वेदना का अनुभव किया था। वे भगवान से कहते हैं –

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः,
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको,
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्य ।।[७]

– "हे प्रभो, प्रायः मुनिगण अपनी मुक्ति की इच्छा से एकान्त में मौन-धारण किये रहते हैं, किन्तु परोपकारार्थ उद्यत नहीं होते। इन दीन-हीनों को छोड़कर मैं अकेला मुक्त नहीं होना चाहता। आपके सिवाय अन्य कोई इनका उद्धारकर्ता भी नहीं है। अतः इन सबको कृपा कर मुक्त करें।" इस प्रकार प्रह्लाद जी ने अपने हृदय में परपीड़ा का अनुभव किया था। राणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी ने प्रजा के दुख का अपने हृदय मे अनुभव किया था। रामकृष्णदेव ने जीवों के दुःख का अनुभव किया था। **परतापात् द्रवते सतां मनः** – दूसरों के दुःख से सन्तों का मन द्रवित हो जाता है - **परदुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता**[८]। आचार्य रामानुज, चैतन्य महाप्रभु और स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने इस मानवीय संवेदना की अनुभूति की थी। **दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी**[९] – परपीड़ा से पीड़ित हो जो उसके उद्धार का प्रयत्न करता है, वह महान पुरुष ही राष्ट्र भक्त होने का अधिकारी है। यह सम्पूर्ण विश्व के राष्ट्रभक्तों के लिए उपयुक्त सार्वजनीन कसौटी है। अतः प्रत्येक राष्ट्रभक्त को स्वामीजी द्वारा कथित प्रथम कसौटी पर स्वयं को निष्कपट हो परख कर देखना चाहिए।

दूसरी कसौटी

"अच्छा माना कि तुम अनुभव करते हो पर पूछता हूँ, केवल व्यर्थ की बातों में शक्ति क्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने हेतु क्या तुमने कोई यथार्थ कर्त्तव्य पथ निश्चित किया है? क्या लोगों की भर्त्सना न कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दुःखों को कम करने के लिए दो सान्त्वनादायक शब्दों को खोजा है? यही दूसरी बात है।"[१०]

प्रायः लोग कहा करते हैं कि 'क्या करूँ दूसरे के दुख से मैं भी व्यथित हूँ, लेकिन मेरे पास कुछ नहीं है, मैं कुछ नहीं कर सकता'। यद्यपि वे सक्षम होते हैं। कुछ लोग सोचते हैं – 'धन, उच्च पद, विपुल शारीरिक शक्ति, जनसमूह, सामूहिक एकता, सर्व समर्थन और महान् विद्वता आदि के द्वारा ही देश की सेवा या परोपकार किया जा सकता है'। इससे रहित होने पर वे अपने को निर्बल मानकर चुपचाप हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहते हैं एवं सरकार, प्रशासन, समाज एवं दूसरों पर दोषारोपण करते रहते हैं। इस प्रकार के कुव्यसन में ही वे अपनी ऊर्जा नष्ट करते रहते हैं। ऐसे लोगों से स्वामीजी पूछते हैं – परपीड़ा से पीड़ित होकर क्या तुमने उस पीड़ा से बचाने के लिए अपने क्षमतानुसार ही कोई योजना बनाई है? क्या कोई सिद्धान्त निश्चित किया है? मैं मानता हूँ कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, लेकिन तुम्हारे पास सान्त्वना देने के लिए, दुखी को ढाढ़स बँधाने के लिए, व्याकुल व्यक्ति को धैर्य बँधाने के लिए मधुर, करुणामयी वाणी है। क्या तुमने निश्छल हो अपनी वाणी द्वारा ही कम-से-कम जनमानस में आशा एवं उत्साह की किरण दिखाने का दृढ़ संकल्प लिया है?

सिद्धि के अनुसार ही साधन मिलता है। लक्ष्यानुसार ही तत्सम्बन्धी भाव आते हैं। 'जहाँ चाह, वहाँ राह'। उद्देश्य के अनुसार ही उपकरण जुटता है। यदि निष्कपट हो कोई पवित्र भावना से प्राणी मात्र के कल्याण हेतु एकनिष्ठ हो ईश्वर से प्रार्थना करे, तो निश्चय ही उससे राष्ट्र का कल्याण होगा, और उससे सम्बन्धित समस्त उपकरण स्वयं चले आयेंगे।

अतः राष्ट्र की सेवा हेतु धन, पद, विद्वत्ता एवं बौद्धिकता आदि की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है – हार्दिक संवेदना, दृढ़ संकल्प, अध्यवसाय, उद्यम, परस्पर सहयोग की एवं जो कुछ भी जितना भी है, उसे ही लेकर राष्ट्र की सेवा में ईमानदारी से समर्पित कर देने की, चाहे वह सरल, सरस, कोमल प्रेमपूर्ण दो शब्द ही क्यों न हो।

तीसरी कसौटी

"किन्तु इतने से ही पूरा नहीं होगा। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लांघकर कार्य करने के लिए तैयार हो?

यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे सामने तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जायँ, नाम की कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में संलग्न रहोगे? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? जैसा कि महान् राजा भर्तृहरि ने कहा है – 'चाहे नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आयें या जहाँ उनकी इच्छा हो चली जायँ, मृत्यु आज हो या सौ वर्ष बाद, धीर पुरुष तो वह है जो न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता।' क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? बस यही तीसरी बात हैं। यदि तुममें ये तीन बातें हैं तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है।''[११]

बहुधा लोग कहा करते हैं, 'क्या करूँ मैं भी राष्ट्र की सेवा करना चाहता हूँ, लेकिन हमारे अभिभावक हमें आज्ञा नहीं देते।' कुछ लोग कहते हैं कि उनकी भी परोपकार करने की इच्छा थी या है, लेकिन उनके पारिवारिक सदस्यों, परिजनों ने उन्हें नहीं करने दिया। इस प्रकार अनेकों तरह से व्यक्ति अपनी कार्पण्यता, दृढ़संकल्पहीनता, मानसिक दुर्बलता को दूसरे पर दोषारोपण करके स्वयं को पूर्ण निर्दोष प्रदर्शित करता है। ऐसे लोगों से स्वामी जी पूछते हैं – क्या तुममें वह क्षमता है कि यदि माता-पिता भाई-बन्धु घड़ों आँसू बहाते रहें, सारा समाज तुम्हारी निन्दा-अपकीर्ति के साथ तुमसे युद्ध करने को तत्पर हों, तब भी अपनी बनाई हुई योजना को चरितार्थ करने के लिए, स्वसंकल्पित सुदृढ़ मार्ग से तिल भर भी विचलित न होओगे? यदि ये तीन बातें तुममें हैं, यदि तुम इन कसौटियों पर खरे उतरते हो तो संसार में अद्भुत, असाधारण कार्य कर सकते हो।

यह जीवन पूर्ण संघर्षमय है। बिना संघर्ष के किसी को उच्च लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। राणा प्रताप ने जंगलों में घास की रोटी खाई। शिवाजी को सिर-दाढ़ी बढ़ाकर नगर नगर भटकना पड़ा। कुँवर सिंह को अस्सी वर्ष की अवस्था में भी शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करते रहना पड़ा। राजपुत्रों के सिर पर स्वर्ण मुकुट चमकता है, लेकिन दुश्मन की पुकार पर सर्वप्रथम उन्हें ही खड्ग लेकर रणभूमि में रक्त की होली खेलनी पड़ती है। अत: महान् कार्य में संघर्ष होगा ही। आवश्यकता है, दृढ़ संकल्प हो परिस्थितियों का सामना करने की। महान् कवियित्री महादेवी वर्मा जी कहती हैं –

टकरायेगा नहीं आज उन्मद लहरों से
कौन ज्वार फिर तुझे पार तक पहुँचायेगा ?
धूल पोंछ, काँटे मत गिन, छाले मत सहला,
मत ठण्डे संकल्प आँसुओं से तू नहला।
तुझसे ही यदि अग्नि-स्नान यह प्रलय महोत्सव
तभी मरण का स्वस्ति-गान जीवन गायेगा।।[१२]

अत: हे वीर युवको, समस्त बन्धनों को तोड़कर, अपनी सभी तरह की दुर्बलताओं का त्यागकर राष्ट्र-माता के सन्तानों की सेवा के लिए प्राण-पण से सचेष्ट हो जाओ।

राष्ट्र-सेवा, मात्र राष्ट्र-ऋण से मुक्ति ही नहीं, अपितु राष्ट्र माता के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन है। राष्ट्र-सेवा धन, मान, पद-प्रतिष्ठा, जीविका हेतु मात्र औपचारिक कर्म नहीं, अपितु प्रत्येक राष्ट्रवासी का प्रकृत धर्म एवं नित्य आवश्यक कर्त्तव्य है। राष्ट्र से लिया तो देना कर्त्तव्य है। राष्ट्रभक्ति बाहर से आरोपित वृत्ति नहीं, अपितु यह एक आन्तरिक सहज प्रेरणा है, जो प्रत्येक देशवासी की रक्त-शिराओं – धमनियों में प्रवाहित एवं हृदय में धड़कती, स्पन्दित होती रहती है। प्रत्येक देशवासी को उर्जित, प्रस्फूरित एवं अनुप्रेरित करती रहती है। अत: प्रत्येक राष्ट्रवासी का यह परम कर्तव्य है कि वह राष्ट्र-माता एवं उनकी सन्तानों की समृद्धि तथा सुरक्षा हेतु हर प्राणी के सुख-शान्ति एवं कल्याण हेतु, अपने राष्ट्रपिता की आन-मान और शान हेतु अपने जीवन को अध्यात्म बना दे, स्वजीवन को राष्ट्र की बलि-वेदी पर समर्पित कर दे, इस राष्ट्र की होमाग्नि में अपना तन-मन-धन सर्वस्व हवन कर दे, उत्सर्ग कर दे।

अत: स्वामी विवेकानन्द जी की यह सार्वजनीन राष्ट्रभक्त की कसौटी विश्व के सभी देशों एवं सभी राष्ट्रभक्तों के लिए समान रूप से उपयोगी है। संसार के समस्त देशभक्तों को अपने को इस कसौटी पर कसकर स्वामीजी के इस आह्वान को स्मरण करते हुए राष्ट्र माता की सेवा में संलग्न हो जाना चाहिए – ''जय हो प्रभु की ! आगे कूच करो। प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं। पीछे मत देखो। कौन गिरा, पीछे मत देखो – आगे बढ़ो, बढ़ते चलो। भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जाएँगे – एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जाएगा। .... बहादुरो, कार्य करते रहो, पीछे न हटो – 'नहीं' मत कहो। कार्य करते रहो – तुम्हारी सहायता के लिए प्रभु पीछे खड़े हैं। महाशक्ति तुम्हारे साथ विद्यमान है।''[१३]

❑❑❑

सन्दर्भ-सूची

१. मैथिलीशरण गुप्त **२**. ध्वन्यालोक, पृष्ठ २,५,९, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं. १९६२; **३**. मेरे प्रिय सम्भाषण, महादेवी वर्मा, पृष्ठ २; **४**. वही, पृष्ठ २४; **५**. हिन्दी निबन्ध लेखन, प्रो. विराज, एम.ए. राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, सं. १९७९; **६**. विवेकानन्द साहित्य, ५/१२०-२१; **७**. श्रीमद्भागवत, प्रह्लाद-स्तुति **८**. रामचरित-मानस, ७/१२५/८; **९**. वही, १/१२९/३; **१०**. विवेकानन्द साहित्य, ५/१२१; **११**. विवेकानन्द साहित्य, ५/१२१, १२२; **१२**. आत्मिका, पृष्ठ १०३, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन दिल्ली; **१३**. भारत और उसकी समस्याएँ, पृष्ठ २९

माँ की स्मृति

मुकुन्दबिहारी साहा

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१८९० ई. में ढाका जिले के सिंगाइर ग्राम में मेरा जन्म हुआ था। अविभाज्य बंगाल का यह छोटा-सा गाँव ढाका शहर से लगभग ३५ मील दूर था। प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद १९०८ ई. में मैं कलकत्ता आया और स्कॉटिश-चर्च कालेज में भर्ती हुआ। मैं वहाँ झामापुकुर मुहल्ले में रहता था। एक दिन मेरे एक मित्र ने श्रीरामकृष्ण देव के एक गृही भक्त श्री 'म' या वचनामृतकार महेन्द्रनाथ गुप्त के बारे में बताया। उसी मित्र के साथ मैं एक दिन श्री 'म' को प्रणाम करने गया। यहीं से रामकृष्ण भावादर्श तथा रामकृष्ण मण्डली के साथ मेरे परिचय की शुरुआत हुई। बीच-बीच में मैं श्री 'म' के पास जाता। बाद में मुझे उनके घनिष्ठ सान्निध्य का सौभाग्य भी मिला। इसी प्रकार कुछ काल बीता। इसी बीच मेरा बी.ए. में नामांकन हुआ। एक दिन श्री 'म' ने मुझे बेलूड़ मठ जाने को कहा। बेलूड़ मठ जाकर मुझे स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी अद्भुतानन्द, स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी सुबोधानन्द आदि ठाकुर के प्रमुख शिष्यों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे उन लोगों के स्नेह व आशीर्वाद का भी सौभाग्य मिला।

एक दिन मैंने श्री 'म' से सुना कि बागबाजार में माँ रहती हैं। जिस मित्र ने मुझे श्री 'म' का संवाद दिया था, उसी मित्र को लेकर एक दिन मैं बागबाजर में माँ के घर गया। यह १९१० की घटना है। नीचे स्वामी सारदानन्द जी महाराज थे। उनकी अनुमति से मैं माँ को प्रणाम करने दुमंजले पर गया। माँ की अभूतपूर्व मातृमूर्ति देखी! माँ पुरुष-भक्तों से बातें नहीं करती थीं, लेकिन जब हम लोगों ने उन्हें प्रणाम किया, तो माँ ने हम लोगों से बातें कीं। पूछा – "हम लोग क्या करते हैं? कलकत्ता में कहाँ रहते हैं? घर कहाँ है?" आदि आदि। माँ की बातें अत्यन्त मधुर थीं। इन दो-चार बातों से ही हम लोगों का प्राण-मन भर उठा। मैं बोला – "माँ, मैं दीक्षा लूँगा।" हल्की मुस्कान के साथ माँ ने कहा – "ठीक है बेटा, तो कल सुबह आ जाओ।" मैंने पूछा – "क्या लेकर आऊँ?" माँ बोलीं – "कुछ नहीं, केवल दो फूल।" अगले दिन सुबह माँ के घर केवल दो फूल लेकर गया। दीक्षा हो गई। माँ के एक सेवक ने कहा – "थोड़ी मिठाई नहीं लाए?" मैं बड़ा शर्मिंदा हुआ। अगले दिन कॉलेज की छुट्टी होने पर माँ को प्रणाम करने गया। पिछले दिन की बात मुझे याद थी। दुकान से थोड़ी-सी मिठाई खरीदकर ले गया था। जिन महाशय ने पिछले दिन मिठाई की बात कही थी, वे बोले – "इस समय कहाँ से? मैं बोला – "कॉलेज से सीधा आ रहा हूँ।" मिठाई का पैकेट महाराज को दिखाकर बोला – "माँ के लिए लाया हूँ।" महाराज ने कहा – "बुद्धू, कॉलेज के कपड़े बदले बिना ही मिठाई ले आये! माँ क्या इसे ग्रहण करेंगी?" मन में बड़ा खेद हुआ। यह सोचते हुए मैं दुमंजले पर गया कि माँ को केवल प्रणाम करके ही लौट आऊँगा। प्रणाम करके उठते ही माँ ने कहा – "क्यों बेटा, मेरे लिए जो मिठाई लाये हो, उसे नहीं दोगे?" माँ अन्तर्यामिनी हैं, उन्हें कुछ भी बताना नहीं पड़ता। लेकिन कॉलेज के कपड़े में खरीदी गई मिठाई तो माँ ग्रहण नहीं करेंगी, अत: मैं चुपचाप खड़ा रहा। माँ बोलीं – "क्यों जी? दो न!" माँ ने हाथ बढ़ा दिया। मैंने संकोच से मिठाई का छोटा पैकेट निकाला। आँखें नम हो गयी थीं। बोला – "मैं कपड़े बदलकर नहीं आया हूँ माँ। कॉलेज से सीधा यही आया हूँ।" माँ बोलीं – "तो क्या हुआ?" मिठाई का पैकेट माँ के हाथ में देने पर माँ ने उसमें से थोड़ा-सा निकाल कर अपने मुँह में डाला और पूरा पैकेट मेरे हाथ में देकर बोलीं – "खाओ।" मैंने मानो अमृत का आस्वादन किया।

एक दिन मैंने माँ से पूछा था – "माँ, मैं क्या करूँगा?" माँ ने कहा था – "और क्या करोगे? सन्मार्ग पर चलना। विवाह मत करना। मास्टरी करना, बच्चों को पढ़ाना।" मैं बोला – "लेकिन बिना विवाह किये यदि कुपथ पर चला जाऊँ तो?" माँ बोलीं – "भय की कोई बात नहीं, बेटा।"

१९१४ ई. में मैंने एम.ए. पास किया। परीक्षा-फल निकलने के पूर्व ही मैंने रामपुर हाट में नवीन उच्च अंग्रेजी विद्यालय में प्रधान शिक्षक के रूप में अपना कर्म-जीवन शुरू किया। माँ ने कहा था – "मास्टरी करना।" कर्म-जीवन की

शुरुआत ही मास्टरी से हुई। और वह मास्टरी कभी छूटी नहीं। माँ का निर्देश जो था – बच्चों को पढ़ाना। आज भी उनकी आज्ञा का पालन करने की चेष्टा कर रहा हूँ। इसमें मैं कितना सफल रहा हूँ, वह तो माँ ही जानती हैं। (आजीवन अविवाहित रहकर परवर्ती काल में मुकुन्दबिहारी साहा ने अपने कर्म-जीवन से अवकाश लेकर १९५१ ई. में रामपुरहाट से सात मील पश्चिम में संथाल-बहुल तुम्बुनी ग्राम में अपने ही प्रयास से रामकृष्ण-विवेकानन्द के आदर्शों पर श्रीरामकृष्ण शिक्षापीठ नाम से छात्रों के लिए एक विशाल आवासीय शिक्षा-संस्थान का निर्माण किया। काले पहाड़ के अंचल में स्थित तुम्बुनी का नया नाम हुआ 'श्याम-पहाड़ी'।)

उस समय रामपुरहाट से आये हुए मुझे दो-एक वर्ष हुए थे। धुवलहाटी के राज परिवार की एक कन्या के साथ मेरे विवाह का प्रस्ताव आया। माँ ने मुझसे कहा था – "विवाह मत करना।" इस प्रस्ताव को मैं साफ मना कर सकता था, लेकिन ऐसा न कर, मैं सीधा बागबाजार माँ के पास पहुँचा। माँ से मैंने सारी बात बतायी। माँ ने कहा – "क्यों बेटा, तुम मजे में तो हो। तुमसे कितने ही बच्चों का कल्याण हो रहा है! इसके बाद भी और भी बहुतों का होगा। तुम कई बड़े-बड़े काम करोगे।" मैं बोला – "लेकिन माँ, बीच-बीच में मेरे मन में विवाह करने की बहुत इच्छा होती है।" माँ ने कहा – "तुम्हारा तो बहुत बड़ा संसार होगा।" मैंने कहा – "लेकिन माँ, क्या मैं इसी प्रकार पूरा जीवन बिता सकूंगा? यदि कभी मेरे मन में दुर्बलता उठी तो?" माँ ने दृढ़तापूर्वक कहा – "उसके लिए तुम चिन्ता मत करो। कलियुग में मन का पाप कोई पाप नहीं होता। जैसे ही कोई दुर्बलता उठे ठाकुर का स्मरण करना, मुझे याद करना।"

आज जीवन-संध्या में पहुँचकर देख रहा हूँ कि माँ के आशीर्वाद से उनका आश्रय लेकर मैं अविवाहित जीवन व्यतीत कर सका। मैं विश्वास करता हूँ माँ के आशीर्वाद से इस पृथ्वी पर कोई भी मुझे किसी प्रकार भी क्षति नहीं पहुँचा सकता।*

* मुकुन्दविहारी साहा का देहान्त १४ मार्च १९६२ ई. को हुआ।

माँ की स्मृति

शिवरानी सेन

इस समय (१९९२ ई. में) मेरी उम्र सत्तासी वर्ष है। आज से लगभग ७९-८० वर्ष पूर्व (१९१२-१३ ई. में) जिस समय मेरी उम्र सात-आठ वर्ष थी, उसी समय मैंने माँ को प्रथम बार देखा। मेरे मामा का घर बागबाजार में था। मेरी नानी प्राय: ही माँ का दर्शन करने बागबाजार में माँ के घर जातीं। उसके बाद माँ जितने दिन जीवित थीं, बीच-बीच में बागबाजार में माँ का दर्शन कर धन्य हुई हूँ। उस समय मेरी उम्र कम थी – माँ की महिमा तो कुछ नहीं जानती थी, केवल माँ को देखकर उनकी बातें सुनकर प्राण शीतल हो जाते। और माँ के पास जाने से ही हमेशा पुरस्कार मिलता – दोनों हाथ भरकर माँ का प्रसाद। जितने दिन तक माँ स्वस्थ थीं, माँ अपने हाथों से प्रसाद देतीं। मिठाई, फल, और भी काफी कुछ ! मेरे दोनों छोटे हाथों में सब नहीं समाता। मैं माँ की महिमा समझूँ या न समझूँ, प्रसाद तो खूब समझती थी। माँ के पास जाने में उस हथेली-भर प्रसाद का लोभ भी था।

श्रीमाँ नानी और अन्य लोगों से बातें करतीं। मैं वह सब सुनती, पर समझती कुछ भी न थी। तो भी मुझसे वे जो कुछ कहतीं, उसका कुछ-कुछ अंश मुझे अब भी याद है। अब भी उनकी वह उज्ज्वल प्रसन्न करुणामयी मूर्ति मेरे नेत्रों के समक्ष तैर रही है।

माँ की बातें अत्यन्त मधुर थीं। वे मधुमयी बातें अब भी कानों में गूँज रही हैं। एक दिन उन्होंने कहा था – "बेटी, कभी चुपचाप मत बैठना, **कुछ-न-कुछ काम करती रहना।** थोड़ा कुछ काम लेकर रहना चाहिए, नहीं तो खाली मन में तरह-तरह के बुरे विचार आकर एकत्र होंगे।"

एक दिन माँ ने एक वयस्क महिला से कहा था – "जिस रास्ते पर तुम जा रही हो, यदि देखो कि उस रास्ते पर कोई गिर पड़ा है, तो उसे तुम उठा देना। **रास्ते में किसी को गिरा देखकर कभी आगे नहीं बढ़ जाना चाहिए।**" तब मैं छोटी थी, माँ की बातों का तात्पर्य नहीं समझती थी। रास्ते में कुछ भी पाने पर उठा लेती, परन्तु जब बड़ी हुई, तब समझ सकी कि माँ के कथन का क्या तात्पर्य था। उनकी जीवनी पढ़कर समझ पायी हूँ कि उन्होंने रास्ते में गिरी चीजों को बटोरने का निर्देश नहीं दिया है, बल्कि उनका कहना है कि यदि हमारा कोई पड़ोसी, कोई परिचित या अपरिचित रास्ते में गिर जाय, तो हमें उसके या उन सबके हाथ पकड़कर ठीक मार्ग पर ले जाना चाहिए। क्योंकि सबका मार्ग एक ही – भगवान की ओर ही है। तो फिर मैं अकेला ही उस पथ पर क्यों चलूँ? मैं दूसरों को भी, जो पथभ्रष्ट हैं उन्हें भी अपनी क्षमता के अनुसार खींचकर उठाने की चेष्टा करूँगा। यही आदर्श तो माँ अपने जीवन में दिखा गयीं। मार्ग में पड़े कितने ही पापी-तापी आर्त नर-नारियों को दोनों हाथों से उठाकर उन्होंने अपनी गोद में रखा है। वे धन्य हैं – पथ से उठाये हुए माँ की सन्तानों का वह दल भी धन्य है !

माँ अत्यन्त लज्जाशील थीं। पन्द्रह-सोलह साल की उम्र के होते ही वे लड़के माँ के लिए 'पुरुष' हो जाते। माँ उनके सामने घूंघट निकालकर पूरा चेहरा ढँक लेतीं। वे कहतीं –

"लज्जा ही महिलाओं का आभूषण है। लज्जा के बिना स्त्रियाँ शोभा नहीं पातीं।" एक दिन एक कम आयु की सुन्दर गृहवधू से उन्हें कहते सुना – "हमेशा अपने शरीर पर अच्छी तरह कपड़ा या चादर लपेट कर ही बाहर निकलना। इससे तुम्हें लगेगा मानो कोई तुम्हारे साथ है।"

एक बार नानी और मामा के घर से कई लोग मिलकर माँ के घर गये। दोपहर में वहीं प्रसाद पाना था। माँ के साथ बैठकर हम लोगों ने प्रसादी भोजन पाया। उस समय मैंने देखा – महिलाओं को साथ लेकर माँ एक कमरे में प्रसाद पाने बैठतीं। पुरुष लोग दूसरे कमरे में प्रसाद पाते। सबने भरपेट प्रसाद पाया है, हाथ-मुँह धोना हो चुका है। देखा, माँ ने खूब व्यग्र होकर एक व्यक्ति से हमारे घर के लिए एक बर्तन में कुछ प्रसाद देने को कहा। जिससे कहा है, उससे थोड़ी देरी होने पर उसका पता लगाने के लिए माँ स्वयं ही उठी थीं। योगीन-माँ बोलीं – "माँ, तुम क्यों उठ रही हो? लगता है वह कटोरी आदि धोकर ला रही है, इसीलिए देर हो रही है।" इसके बाद उन्होंने थोड़ा हँसकर कहा – "तुम्हारे पिता ने क्या बरतनों की यहाँ ढेरी लगा दी है, जो तुम सबको ले जाने के लिए बर्तन में प्रसाद दोगी।" माँ ने मधुर हास्य के साथ कहा – "अहा, बच्चे थोड़ा प्रसाद पायेंगे इसलिए कह रही हूँ।" योगिन-माँ हँसकर बोलीं – "तुम्हें क्या हम लोग जानती नहीं? तुमसे यदि हो सका तो दुनिया के सारे लोगों को बैठाकर खिलाओगी। अच्छा, तुम बैठो, मैं देखती हूँ।" यह कहकर योगीन-माँ उठ गयीं और हमें घर लें जाने के लिए प्रसाद लाकर दिया। माँ के चेहरे पर परम तृप्ति की हँसी खिल उठी। आज जब ये बातें सोचती हूँ, तो लगता है, माँ जगद्धात्री के रूप में जगत् का पालन करती हैं, अन्नपूर्णा के रूप में जगत् का भरण-पोषण करती हैं, इसी कारण तो सबके लिए उन्हें इतनी चिन्ता है।

माँ 'रामकृष्ण-गत-प्राणा' थीं। उनका प्रत्येक कार्य, प्रत्येक बात और उनका प्रत्येक चिन्तन ठाकुर से जुड़ा रहता था। माँ मेरी माँ तथा नानी से कहतीं – "**जीवन के हर कदम पर ठाकुर को स्मरण रखना। इससे कोई कष्ट, कष्ट जैसा नहीं प्रतीत होगा।** दुख-कष्ट किसके जीवन में नहीं है? वह सब तो रहेगा ही। उनका नाम लेने से, उनका आश्रय ग्रहण करने पर वे शक्ति देंगे, तब उससे दुख-कष्ट तुम पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा।"

बागबाजार के उस छोटे से घर में माँ मानो सारा विश्व-संसार समेटे बैठी हैं। इतने भक्तों के आवागमन के बीच वहाँ का प्रत्येक कार्य ठीक-ठीक सम्पन्न होता। अपराह्न में योगीन-माँ या गोलाप-माँ श्रीमाँ के केशों में कंघी कर देतीं। माँ के सिर के बाल खूब घने काले और बड़े सुन्दर थे। जैसे माँ स्वयं गम्भीर थीं, वैसे ही उनके केश भी घने गम्भीर थे। उन्हें देखकर लगता, मानो आकाश काले बादलों से घिर गया है। आयु में वृद्धि के साथ बाद में माँ के बाल कम हो गये थे।

माँ के दोनों चरण अत्यन्त सुन्दर थे। पैरों के तलवों का रंग कमल के फूल के समान लाल था। पैरों का गठन भी अत्यन्त सुन्दर था। चेहरे की बनावट बहुत सुन्दर थी, उनके नेत्र, नाक अपूर्व थे। माँ का मुख-मण्डल और दोनों नेत्र करुणा तथा ममता से परिपूर्ण थे।

एक बार माँ की भतीजी राधू की आँखों में कुछ पड़ गया। वह दौड़ती हुई आई और माँ की गोद में सिर रखकर लेटकर बोली – "मेरी आँखों में कुछ पड़ गया है, जलन हो रही है। मेरी आँखों पर जरा अपने हाथ फेर दो। उसी से मेरी आँख ठीक हो जायेगी।" माँ ने हँसते हुए राधू का सिर अपनी छाती से लगाकर उसके आँखों पर अपना हाथ फेर दिया। आश्चर्य की बात! राधू ने कहा – "मेरी आँख ठीक हो गयी है। अब आँखों में कुछ नहीं है।"

कम आयु की विधवाओं का एकादशी के दिन निर्जला या ऐसे भी उपवास करना, माँ को सहन नहीं होता था। उनके सिर के बाल काटकर छोटे करना भी माँ को अच्छा नहीं लगता था। वयस्क विधवाएँ भी एकादशी के दिन निर्जला उपवास करें, यह माँ को पसन्द नहीं था।

माँ की अनन्त लीला का भला कितना अंश मैं समझती हूँ! जितना देखा है, उसे भी ठीक-ठीक लिख पाना मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। तो भी अपने बचपन में जो कुछ अपनी आँखों से देखा है, जो बातें सुनी है, उसका अति अल्प अंश ही मुझे याद है। माँ की कृपा से अपनी वही देखी-सुनी कुछ बातें सबको बाँटने की इच्छा से प्रस्तुत किया है।

❑❑❑

कर्मवाद और पुनर्जन्म (४)

स्वामी आत्मानन्द

कर्म के सिद्धान्त में, विश्व में कहीं पर आकस्मिकता या संयोग के लिये जगह नहीं है। बिना कारण के कुछ भी नहीं घट सकता। जैसा कारण होगा, वैसा कार्य। कार्य-कारण से सम्बन्धित होता है। यह कर्मवाद, जिस पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त खड़ा है, विश्व में कार्यरत कार्य-कारण का नियम है, जो मानवी धरातल पर नैतिक नियम के रूप में कार्य करता है। जैसा हम बोयेंगे, वैसा काटेंगे। न तो आनुवंशिकता, न वातावरण और न ही दोनों का परस्पर मिलन-संघटन किसी के जन्म और विकास को समझा सकता है। फिर, साधारण माता-पिता से प्रतिभाशाली सन्तान का, सामान्य माता-पिता से मन्द-बुद्धि शिशु का, विक्षिप्त-मस्तिष्क माता-पिता से मानसिक रूप से स्वस्थ शिशु का तथा धर्मप्रवण माता-पिता. से दुष्ट सन्तान का जन्म लेना देखा गया है। केवल कर्म का नियम ही इन विसंगतियों को समझा सकता है। बात यह है कि सन्तान माता-पिता के पास आती है, उनके द्वारा पैदा नहीं की जाती। व्यक्ति के जन्म और विकास में उसी की भूमिका प्रमुख है, शेष सब उनके लिये गौण हैं। गीता कहती है कि जीव अपने अनुरूप माता-पिता चुन लेता है (६/४३, ८/६)। विलक्षण प्रतिभाएँ इसकी ज्वलन्त उदाहरण हैं। स्पष्ट है कि ये विलक्षण प्रतिभाएँ आनुवंशिकता या परिवेश अथवा इन दोनों के मेल-जोल से अपनी ये असामान्य शक्तियाँ प्राप्त नहीं करतीं। उन्होंने अपने पूर्व-जन्मों में उनकी साधना की होगी। जन्म और मृत्यु के क्रमागत-प्रवाह में, पुनर्जन्म का सिद्धान्त व्यक्ति की पहचान को बनाकर रखता है। वही एक व्यक्ति विभिन्न शारीरिक चोलों में दिखायी देता है, पर सब समय उसका मनोयंत्र एक ही रहता है, जो शरीर से अलग किया जा सकता है। उसकी उन्नति मुख्यत: उसके मन के विकास पर निर्भर करती है और मन का विकास उसके कार्यों और विचारों से उत्पन्न संस्कारों पर।

हम ऊपर कह चुके हैं कि कर्मों और विचारों के संस्कारों से प्रारब्ध बनता है। कर्म और विचार के संस्कार में जो अन्तर है, वह केवल मात्रा का, तारतम्य का। कल्पना कीजिये, मैं किसी से द्रोह करता हूँ। एक स्थिति हो सकती है कि मैं उससे मन-ही-मन द्रोह करूँ और अपने विचारों को क्रिया में व्यक्त न होने दूँ। ऐसे विचारों का एक संस्कार अन्त:करण पर पड़ेगा ही, यह तो हम सोच ही सकते हैं। अब मान लीजिये कि मैं उसके प्रति अपने इस द्रोह को क्रिया में भी व्यक्त करता हूँ। यह क्रिया मेरे उस शत्रु से प्रतिक्रिया खींचकर लायेगी और इसीलिये इस द्रोहात्मक क्रिया का संस्कार केवल वैचारिक द्रोह के संस्कार से अधिक प्रबल होगा। बस, दोनों में ही यही अन्तर है। **संस्कार तो क्रिया और विचार दोनों का पड़ता है।**

कर्म की इस संस्कारात्मक शक्ति से कोई बच नहीं सकता। मैं ईश्वर की कल्पना एक विराट् 'कम्प्यूटर' (संगणक यंत्र) के रूप में करता हूँ, जो इतना 'सेंसिटिव' (सूक्ष्मग्राही) है कि भावना के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्पन्दन को भी चट से अंकित कर लेता है। परमहंस श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे – "ईश्वर चींटी के पैर का शब्द भी सुन लेता है।" कम्प्यूटर में हिसाब की कोई गड़बड़ी नहीं होती। भले ही मनुष्य भूल जाय कि बीस वर्ष पहले उसने कौन-कौन-सी क्रियाएँ की थी और कौन-कौन-से विचार सोचे थे, पर यह ईश्वररूपी कम्प्यूटर कुछ भी बिसारता नहीं। वह सारा हिसाब बनाकर हर समय तैयार रखता है। उसमें delay (विलम्ब) या Procrastination (दीर्घसूत्रता) नहीं है। वह हमारे समान कामचोर या टाल-मटोल करनेवाले स्वभाव का नहीं है। अभी हमने कोई कर्म किया कि उसका संस्कार जाकर चित्त में अंकित हो गया, और इस कम्प्यूटर ने भी तुरन्त अपना हिसाब जोड़-घटाकर Up-to-date (अद्यतन) कर लिया। हमने कोई बुरा कर्म किया या किसी को हानि पहुँचाई, तो उसका भी संस्कार जमा हो गया, और किसी की सेवा-सहायता की, तो वह संस्कार भी चट जमा हो गया! ऐसा विलक्षण है यह कम्प्यूटर! इस ईश्वररूपी कम्प्यूटर का साधारण कम्प्यूटर से केवल, इतना ही भेद है कि जहाँ प्रथम चैतन्यस्वरूप है, वहाँ दूसरा मात्र जड़; प्रथम का कार्यक्षेत्र अनन्त और असीम है, जबकि दूसरे का कार्यक्षेत्र सीमित। इस ईश्वररूपी कम्प्यूटर को छला नहीं जा सकता। उसके हिसाब में रेशे का भी अन्तर नहीं होता। हम ईश्वर को कभी-कभी अन्यायी कहकर दोष देते हैं, पर इसका कारण हमारी दृष्टि-शक्ति का सीमित होना है। सीमित दृष्टि-शक्ति को ही हम दूसरे शब्दों में अज्ञान कहते हैं। अपनी सामर्थ्य और योग्यता का गलत मूल्यांकन भी अज्ञान की सीमा में आता है। तो, हम अल्प दृष्टिसम्पन्न भी हैं और अपनी योग्यता का गलत मूल्यांकन भी करते हैं। इसलिये हम ईश्वर की धारणा नहीं कर सकते, उस विराट् कम्प्यूटर के निरपेक्ष हिसाब को नहीं समझ सकते।

कोई कह सकता है कि यदि ईश्वर एक कम्प्यूटर है, तो उसकी प्रार्थना करने का क्या तात्पर्य है? कम्प्यूटर तो किसी के प्रति पक्षपात नहीं करेगा। फिर, यह जो भजन-पूजन, हवन-पाठ आदि चलता है, उसकी क्या उपयोगिता? इसके

उत्तर में कहा जा सकता है कि भजन-पूजन, प्रार्थना-पाठ इत्यादि क्रियाएँ हमारी भावनाओं को शुद्ध करती हैं और इन शुद्ध भावनाओं के संस्कार कम्प्यूटर में अंकित होकर हमारे हिसाब में जमा हो जाते हैं। जब हम प्रार्थना करते हैं, तो आकाश में बैठा कोई ईश्वर हमारी बात नहीं सुनता; वह हमारी अपनी भावना है, जो इस प्रकार की प्रार्थना से शुद्ध और उदात्त होती है। यह कम्प्यूटर सर्वव्यापी है और प्रत्येक जीव के चित्त में उसकी Personal file (व्यक्तिगत मिसिल) है, जिसके अनुसार वह जीव का नियंत्रण करता है। तभी तो भगवान कृष्ण अर्जुन से गीता में कहते हैं –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानां यन्त्रारूढानि मायया ।। १८/६१

– 'हे अर्जुन ! यंत्र पर आरूढ़ हुए के समान सब भूतों को उनके कर्मों के अनुसार अपनी माया से घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतों के हृदय में वास करता है।'

हमने पहले यह प्रश्न उठाया था कि शरीरान्तर-ग्रहण में जोंक का उदाहरण सही है अथवा वस्त्र और घर का? आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र पर अपने शारीरक भाष्य में इस प्रश्न को उठाते हैं और तर्कपूर्ण उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि देही आत्मा-जीव-पंचाग्नि-क्रम से नया शरीर प्राप्त करता है। साथ ही वे जोंक और वस्त्र दोनों के उदाहरण में समन्वय कर देते हैं। उनका वहाँ पर (३/१) एक वाक्य है – **कर्मोपस्थापित-प्रतिपत्तव्य-देहविषय-भावना-दीर्घीभाव-मात्रं जलूकया उपमीयते** – अर्थात् "मृत्यु के समय अगला जन्म प्राप्त कराने के लिये जो प्रारब्ध या प्रधान कर्म अग्रसर होता है, वह आगे प्राप्त होनेवाले शरीर की भावना को उसी समय उपस्थित कर देता है। उस भावना का दीर्घीभाव अर्थात् दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त होने तक उसका बना रहना ही जोंक की उपमा द्वारा प्रदर्शित हुआ है।"

व्यक्ति का अन्तिम क्षण जब निकट आता है, उस समय वह बाहर के संसार के लिये तो बेहोश रहता है, पर अपने भीतर वह पूरे होश में रहता है। उसके जन्म-जन्मान्तर के सारे संस्कारों की समष्टि उसके मानस-पटल पर मानो आकर खड़ी हो जाती है और जो संस्कार प्रबल होते हैं, वे उसके अगले शरीर की भावना उत्पन्न करते हैं। यही प्रबल संस्कार-समूह 'प्रारब्ध' कहलाता है। यह शरीर छोड़ने वाले जीव के सूक्ष्म शरीर को आगे प्राप्त होनेवाले शरीर की अनुरूप-भावना से आक्रान्त करता है तथा उसे तदनुरूप आकार प्रदान करता है। अर्थात् जीव मरण-काल में अपने शरीर में विद्यमान रहते हुये ही आनेवाले शरीर की भावना से युक्त हो जाता है और फिर उसके बाद शरीर छोड़ता है। इसी को भागवत एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में अगले शरीर का पकड़ना मानकर जोंक का उदाहरण दिया गया है। जीव के मरणकाल की भावना ही उसे शरीरान्तर-प्राप्ति का कारण बनती है। गीता में ही कहा गया है –

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

– "हे कौन्तेय ! मनुष्य अन्त में जिस भाव का स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है, सदा उस भाव में युक्त होने के कारण उसी को प्राप्त होता है।" इस प्रकार वस्त्र और घर के उदाहरण का भी निर्वाह हो गया तथा जोंक के उदाहरण का भी।

इस प्रकार हमने देखा कि मृत्यु के समय मनुष्य के सारे संस्कार उसके मानस-पटल पर आकर मानो खड़े हो जाते हैं। उस संस्कार-समूह में जिन संस्कारों की प्रबलता होती है, वे उसके सूक्ष्म शरीर को तदनुरूप आकार प्रदान करते हैं, और उसकी अगली योनि उसी क्षण निश्चित हो जाती है। जो संस्कार प्रबल होकर जीव की अगली योनि को निश्चित करने में कारण बनते हैं, वे 'प्रारब्ध' कहलाते हैं और यह प्रारब्ध ही उसकी अगली योनि का 'सूक्ष्म शरीर' बन जाता है। संस्कारों का अन्य जो विपुल अंश बाकी रहता है, वह 'कारण शरीर' में जमा रहता है। मृत्यु के समय 'सूक्ष्म शरीर' 'कारण शरीर' के साथ इस 'स्थूल शरीर' से बाहर निकल जाता है। वही मृत्यु की अवस्था है। इस प्रकार, 'कारण शरीर' हमारे जन्म-जन्मान्तरों के संचित संस्कारों से बनता है। वह वासनामय हुआ करता है। सूक्ष्म शरीर का निर्माण हमारे प्रारब्ध संस्कार करते हैं। 'सूक्ष्म शरीर' और 'कारण शरीर' की युति को मोटे तौर पर 'जीव' कहते हैं। 'अमीबा' से लेकर ज्ञान-लाभ से पूर्व तक प्रत्येक जीव के सूक्ष्म शरीर की अपनी एक विशिष्टता, एक अलग पहचान बनी रहती है। यह जीव अपने प्रारब्ध के अनुसार ऊपर या नीचे जाता है अथवा मध्य में रहता है। प्रारब्ध में यदि सत्त्वगुण की प्रबलता रही, तो मृत्यु के बाद वह स्वर्गादि उच्च लोकों को जाता है; यदि रजोगुण प्रबल हुआ, तो वह मनुष्य लोक में ही रहता है, अर्थात् मृत्यु के उपरान्त पुनः मनुष्य योनि में ही पैदा होता है; और यदि तमोगुण का प्राबल्य रहा, तो वह अधोगति को प्राप्त होता है, अर्थात् कीट-पशु आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। गीता में कहा भी है –

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः ।। १४/१८

अब यहाँ पर एक प्रश्न और खड़ा होता है। क्या जीव का पीछे की योनि में जाना सम्भव है? एक बार जिसने मनुष्य-योनि प्राप्त कर ली, वह फिर से क्या नीचे की पशु-कीटादि योनि में जा सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि हाँ, जीव का निम्न योनियों में जाना सम्भव है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता है। जैसे जीव अपने पुण्य-कर्मों के भोग के लिये स्वर्गादि उच्च लोकों को जाता है, वैसे ही वह अपने जघन्य पाप-कर्मों के फलभोग के लिये निम्न योनियों को प्राप्त हुआ करता है। जैसे देव-योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, वैसे ही निम्न योनियाँ भी भोग-योनियाँ हैं। एकमात्र मनुष्य की योनि ही कर्म-योनि है, जहाँ मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपनी नियति का, अपने भावी जीवन का निर्माण कर सकता है और करता है। मनुष्येतर अन्य सभी योनियाँ मात्र भोग-योनियाँ हैं, जहाँ कोई कर्म नहीं किये जा सकते, जहाँ केवल कर्मों का फलभोग ही किया जा सकता है। जैसे जीव अपने पुण्य-कर्मों का फल स्वर्गादि में भोगकर अपने बचे हुये संचित संस्कारों का भोग करने हेतु पुन: मनुष्य-योनि में प्रवेश करता है, वैसे ही निम्न योनियों में अपने पाप-कर्मों का फल भोगकर वह अपने शेष संचित संस्कारों के फलस्वरूप पुन: मानव योनि में आता है, और इस प्रकार जन्मान्तरण का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि वह अपनी दिव्य-स्वरूपता को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर लेता। वही पूर्णता की अवस्था है, जिसे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, निर्विकल्प समाधि, ईश्वर-दर्शन आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जा सकता है। अच्छा, आपने कहा कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार निम्न योनि में भी जा सकता है। मान लीजिये कोई मनुष्य अपने प्रारब्धानुसार कुत्ते की योनि पाता है। तो, कुत्ते की योनि से जब वह छूटेगा, तो सीधे मनुष्य की योनि में आ जायेगा, या फिर उसे पुन: कुत्ते एवं मनुष्य के बीच जितनी योनियाँ हैं, उन सबमें से होकर गुजरना पड़ेगा? इसका उत्तर यह है कि वह कुत्ते की योनि के बाद सीधे ही मनुष्य योनि में आ जायेगा और अपनी पिछली मनुष्य-योनि में जहाँ तक वह पहुँचा था, वहाँ से सूत्र पकड़कर आगे बढ़ चलेगा। राजा भरत की कथा से यह बात पुष्ट होती है। वे अपने द्वारा बचाये गये मृग-शावक में इतने आसक्त हो गये थे कि मृत्यु के समय वे ईश्वर का चिन्तन बिसर गये और उस हरिण के छौने का ही स्मरण करने लगे। फलस्वरूप उन्हें मृग की योनि में आना पड़ा। अपना कर्मफल मृगयोनि में भोगकर वे पुन: मनुष्य-योनि में चले गये और जड़भरत के नाम से विख्यात हुये। मनुष्य इसी प्रकार अपने तीव्र कर्मों के फलभोग के लिये निम्न या उच्च योनियों में जाया करता है। कुछ कुत्ते ऐसे होते हैं, जो बिस्कुट-डबलरोटी खाते हैं; मेम साहब के साथ गुदगुदे बिछौने पर सोते हैं, कार में घूमने जाते हैं, जिनके लिये बड़े-बड़े डॉक्टरों का इलाज चला करता है। एक अल्सेशियन कुतिया को मैंने देखा, जो घर में आरती-भजन के समय पास आकर चुप बैठ जाती थी। दूसरे समय किसी अजनबी की मजाल नहीं कि घर में पैर रख सके। पर प्रार्थना-भजन आदि के समय कोई भी अपरिचित घर में आये, कुतिया चुप बैठी रहती थी। आखिर वह कुतिया अपने जातिवालों से भिन्न तो हुई। यह भिन्नता कहाँ से आयी। रही होगी वह पिछले जन्म में मनुष्य। कहते हैं, स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक मित्र को गाय की योनि में देखा था। जब स्वामीजी अमेरिका गये हुये थे, तब उस मित्र की मृत्यु हो गयी। अमेरिका से लौटने के बाद जब उन्होंने बेलूड़ मठ में रामकृष्ण संघ का प्रधान केन्द्र स्थापित किया और वहाँ स्थायी रूप से रहने लगे, तब वहीं उन्होंने अपने उस दिवंगत मित्र को गाय की योनि में देखा था। इससे सिद्ध होता है कि जीव का पुनर्जन्म निम्न योनियों में भी हुआ करता है। जीव विज्ञान के क्षेत्र में भी Atavism (पूर्वजोद्भव) के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है, जहाँ इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया गया है कि जीव में पीछे की ओर जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

इस प्रकार विविध दृष्टियों से कर्म व पुनर्जन्म के सिद्धान्त की विवेचना की गयी। यह सिद्धान्त मनुष्य-मात्र के जीवन-प्रवाह को अर्थवत्ता प्रदान करता है और अपनी दिव्य स्वरूपता को जानकर कृतकृत्य होने के लिये उसका आह्वान करता है।

❖ (समाप्त) ❖
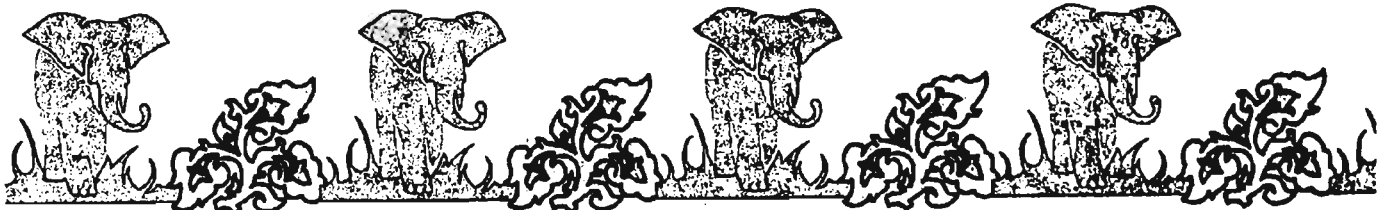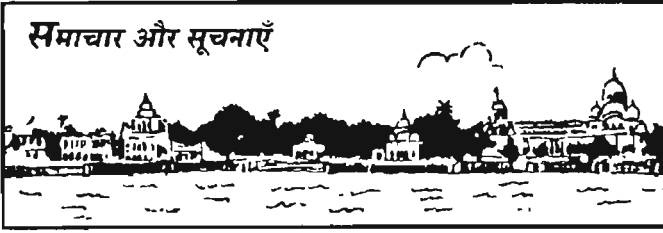
रामकृष्ण मिशन आश्रम, सरिषा

बंगाल के निरक्षर और अन्नहीन ग्रामवासियों में स्वास्थ्य, शिक्षा, समृद्धि का विस्तार करके उन्हें सर्वसुख-सम्पन्न करने का महान् व्रत लेकर श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र स्वामी ब्रह्मानन्द जी के मंत्रशिष्य ब्रह्मचारी अमिय (बाद में स्वामी गणेशानन्द) ने १९१९ ई. में चौबीस परगना के डायमण्ड हारबर के पास सरिषा ग्राम में एक आश्रम की स्थापना की। गाँव के उच्च अंग्रेजी विद्यालय के पूर्व की ओर स्थित एक परित्यक्त लौह-कर्मशाला में आश्रम का कार्य प्रारम्भ हुआ। स्थानीय लोगों को कपड़ा बुनना सिखाना और नि:शुल्क होम्योपैथी दवा का वितरण आश्रम का पहला कार्य था। २५ दिसम्बर, १९२१ को आनुष्ठानिक रूप से रामकृष्ण मिशन आश्रम, सरिषा की स्थापना हुई। १९२३ ई. में अमिय महाराज संन्यास व्रत में दीक्षित हुए और जुलाई १९२४ ई. में सरिषा आश्रम अपनी वर्तमान भूमि पर स्थानान्तरित हो गया। त्यागी संन्यासियों के अलावा शिवनारायण चट्टोपाध्याय, डॉ. सुरेन्द्रनाथ बसु, डॉ. सुरेन्द्रनाथ मित्र, पाँचूकाली साहा आदि विशिष्ट लोगों ने इस आश्रम की स्थापना में कई तरह से सहायता की। १९२७ ई. में गाँव की आम जनता में शिक्षा के विस्तार हेतु बहुमुखी कार्य प्रारम्भ हुए। समीप के कई गाँवों के बच्चों को एकत्र कर 'शिक्षा-मन्दिर' नाम से एक विद्यालय शुरू किया गया। १९३७ ई. में शिक्षा-मन्दिर को Extended M.E. school तथा १९४८ ई. में High school के रूप में सरकारी मान्यता मिली। १९४१ ई. में स्वामी गणेशानन्द जी के ब्रह्मलीन होने के बाद स्वामी निर्मोहानन्द आश्रम के सचिव हुए। इन्हीं कर्मठ संन्यासी के नेतृत्व में आश्रम के विभिन्न कार्य-कलाप आरम्भ हुए तथा आश्रम श्रीसम्पन्न हुआ। N.C.C., शरीर-शिक्षा, शिक्षा, कृषि, बी.टी. आदि के प्रशिक्षण में वे आश्रम के शिक्षक-शिक्षिकाओं तथा अन्य उत्साही लोगों को जोड़ लेते। आश्रम का अपना स्काउट दल भी है। स्वामी निर्मोहानन्द ने सुदीर्घ ३२ वर्ष से भी अधिक काल तक सचिव रूप में सरिषा आश्रम की सेवा की।

आश्रम-स्थापना के पूर्व उस क्षेत्र में बालिकाओं के लिये कोई विद्यालय न था। उच्च वर्णों की बालिकाएँ गाँव के विद्यालय में लड़कों के साथ ही कुछ लिखना-पढ़ना सिखती थीं। रामकृष्ण मिशन, सरिषा ने वहाँ केवल बालिकाओं के लिए 'सारदा-मन्दिर' की स्थापना की। १९२७ ई. में इसे सरकारी मान्यता प्राप्त हुई। 'राष्ट्रसंघ' ने १९४५ ई. में नारी-अधिकार की बात आरम्भ की, जबकि इसके काफी पूर्व ही स्वामी विवेकानन्द ने नारी-जागरण के लिए आह्वान किया था! स्वामीजी के उस स्वप्न के अनुसार ही स्वामी गणेशानन्द जी के द्वारा १९२८ ई. में 'सारदा-मन्दिर' की स्थापना हुई। वर्तमान में 'शिक्षा-मन्दिर' तथा 'सारदा-मन्दिर' प्रत्येक में छात्र-छात्राओं की संख्या एक हजार से अधिक है। छात्रावास में लगभग २०० छात्र रहते हैं, जिनमें से ५० को रियायत मिलती है। बालिकाओं के छात्रावास में भी करीब २०० लड़कियाँ हैं, जिनमें से २३ को रियायत मिलती है।

क्रमश: सरिषा आश्रम के कार्यक्षेत्र में विस्तार होता गया। यह आश्रम गाँव के लोगों में बेहतर जीवन और सभ्यता-संस्कृति का आलोक लाने में व्रती रहा है। विभिन्न समयों में स्वामी वेदान्तानन्द, स्वामी आदित्यानन्द, स्वामी स्वतंत्रानन्द (यतीन महाराज), स्वामी यज्ञानन्द जैसे महा-उद्योगी, आत्मनिष्ठ, कर्मठ संन्यासियों और अनेकों अनाडम्बर कर्मयोगी भक्तों ने इसके कार्य में बहुमूल्य योगदान किया। संन्यासियों ने कभी गाँव के घर-घर में जाकर सभ्यता का प्रदीप जलाया था। वे बागदीपाड़ा में जाकर रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनाते और मुहल्ले के छोटे बालकों में स्वाभाविक संगीत-प्रेम को देख उन्हें नाटकों के गीत सिखाते। इन क्रिया-कलापों के द्वारा अनजाने ही सबका जीवन सुसंस्कृत हो गया। स्वामी विवेकानन्द मनुष्य का निर्माण करना चाहते थे। रामकृष्ण मिशन, सरिषा अपने अंचल में अपनी ही रीति से स्वामीजी के इस महान् व्रत को धारण तथा रूपायित करने में तत्पर है। १९८२ ई. में वहाँ की बालिकाओं को आत्म-निर्भर बनाने के लिए 'कम्यूनिटी सेन्टर' (सहकारी केन्द्र) की स्थापना हुई। १९९० ई. के फरवरी माह में नवीन श्रीरामकृष्ण मन्दिर की स्थापना हुई और मार्च १९९३ ई. में नव-निर्मित मन्दिर में श्रीरामकृष्ण की संगमरमर की मूर्ति स्थापित की गई। दोनों ही महत् कार्य रामकृष्ण मठ व मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने किया। वर्तमान आश्रम का भू-परिसर लगभग ७० बीघे में फैला है। 'शिक्षा-मन्दिर' और 'सारदा-मन्दिर' के अलावा आश्रम द्वारा चार प्राथमिक विद्यालय भी संचालित हैं, जिनमें लगभग १००० छात्र-छात्राएँ हैं), बालिकाओं के लिए दो प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण केन्द्र हैं (जिनमें ७५ शिक्षार्थी हैं), एक कारीगरी विभाग है (जिसमें ६५ शिक्षार्थी हैं), तहसील तथा ग्राम-ग्रन्थागार – दोनों में कुल मिलाकर करीब २३ हजार पुस्तकें हैं), दो सचल दृश्य-श्रव्य इकाइयाँ, एक होम्योपैथिक चिकित्सालय, 'रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान (कलकत्ता) के सहयोग से एक चल-एलोपैथिक चिकित्सालय, नर्सों के लिए स्थानीय प्रशिक्षण तथा बालिकाओं के लिए (१०० से भी अधिक शिक्षार्थियों से युक्त) कम्युनिटी सेन्टर आदि की व्यवस्था है। ❑❑❑